सम्पादक बाबू श्यामसुन्दर दास, बी. ए.।

सरस्वती

सचित्र मासिक पत्रिका

भाग २

सन् १९०१ ई०

इण्डियन प्रेस, प्रयाग, द्वारा मुद्रित और प्रकाशित।

सूचीपत्र

1901

का।

सरस्वती

सचित्र मासिक पत्रिका

दा०]
रोशन
किशोरील
हिन्दी

जनवरी १९०१ ई०

[संख्या

भूमिका

आज इस नई शताब्दी के प्रारम्भ से हमारी इस सरस्वती पत्रिका का, [illegible]भी नवीन वर्ष प्रारम्भ हुआ है। इन गत सौ बर्षों में भारतवर्ष ने जो कुछ परिवर्तन देखे, उन्हें पढ़ और जान कर अधिक आश्चर्य होता है। उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में यहां मुसल्मानों का प्रभुत्व विद्यमान था। यद्यपि अंग्रेज़ी राज्य की जड़ जम चुकी थी, पर राज्य विस्तृत न होने के कारण वे तब तो नाम मात्र के राजा थे। मुसल्मानों के अस्त के साथ ही साथ मरहट्टों का भी अस्त हुआ। उधर पञ्जाब में बीर सिक्ख जाति का उदय और अस्त भी इसी शताब्दी में हुआ और इन्हीं सौ बर्षों में बृटिश राज्य का पूर्ण प्रभाव और प्रताप इस भारत भूमि के एक कोने से दूसरे कोने तक फैल गया। बृटिश सिंह की अधीनता में देश में शान्ति फैली, रेल, तार और पोस्ट आफ़िसों का प्रचार हुआ। स्थान स्थान में विद्यालय और विश्वविद्यालय स्थापित हुए; सारांश यह कि राजनैतिक रीति पर इस देश का मानो एक प्रकार से काया पलट ही हो गया। पाश्चात्य विद्या, कला, कौशल और सभ्यता ने देश का रूपही बदल दिया। लोगों के ध्यान दूसरी ओर खिंच चले और इस बृटिश सिंह का इतना अधिक प्रभाव भारत-बासियों पर पड़ा कि हम लोगों ने निज देशीय प्रत्येक प्राचीन बात को त्याग कर सब विषयों में पाश्चात्य देशों के अनुगामी होने ही में अपना गौरव और कल्याण समझा और बृटिश सभा समाजों और उसी की स्वतंत्रता के लिये लालायित हो हम निज मनोवा[illegible] के प्राप्त करने में लगे हैं।

संसार के प्रवाह के साथ इस देश-बासियों ने अपने धार्मिक विश्वास को भी बदल कर समयानुकूल बनाना चाहा। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये आर्यसमाज, ब्रह्मसमाज आदि अनेक नवीन मतों का प्रचार हुआ। कुछ लोगों ने सनातन धर्म का डङ्का पीटा और उसीकी दुहाई देने लगे और कुछ लोग हिन्दू सनातन धर्म को वैज्ञानिक रीति पर समझ, लोगों को उसी ओर आकर्षित करने लगे; निदान और परिवर्तनों के साथ भारतवर्ष में धार्मिक परिवर्तन भी अनेक हुए और यह प्रवाह भी पूर्ववत प्रवाहित हो रहा है।

देश-भाषाओं ने भी इस शताब्दी में विशेष उन्नति की। और भाषा को जाने दीजिए, आप हिन्दी की ओर ध्यान दीजिए। यह बात सब लोगों को बिदित है कि हिन्दी भाषा का आदि कवि चन्द बरदाई है। यह बारहवीं शताब्दी के अन्त में हुआ और प्राकृत का अन्तिम वैयाकरण हेमचन्द्र ११५० ई० में हुआ। चन्दबरदाई के रासौ की भाषा के देखने से यह स्पष्ट बिदित होता है कि उस समय उत्तरी भारतवर्ष में प्राकृत-मिश्रित हिन्दी का प्रचार था। समय के परिवर्तन-शील गुण के अनुसार भाषा में परिवर्तन होते चले और आज हम अपनी हिन्दी को बारहवीं शताब्दी की हिन्दी से बहुत भिन्न पाते हैं। हिन्दी ने प्रथम ब्रजभाषा का रूप धारण किया और वह गद्य और पद्य दोनों में प्रचलित रही; यद्यपि अब गद्य में ब्रजभाषा का कुछ भी नहीं अथवा बहुत कम प्रचार है और पद्य में यह अभी तक ज्यों की त्यों प्रचलित है। यह उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में हुआ कि हिन्दी ने नया रूप धारण किया। आधुनिक हिन्दी गद्य का जन्म सन् १८०० में लल्लूलाल ने किया। और उनके पीछे तो अन्य प्रतिभाशाली बिद्वान लेखकों ने इसे परिमार्जित कर प्रसाद-गुण-सम्पन्न किया, निदान यह उन्नीसवीं शताब्दी के ही भाग्य में था कि हिन्दी गद्य की उत्पत्ति और उसकी उन्नति हो। हमारे बिचार में तो हिन्दीभाषा के इतिहास में यह शताब्दी सदा स्मरणीय बनी रहेगी, पर अभी तक लोगों का ध्यान हिन्दी पद्य की ओर बहुत कम हुआ है। हिन्दी पद्य से हमारा आशय उस पद्य से है, जो आज कल की हिन्दी में लिखा हो और न कि प्राचीन ब्रजभाषा में, ब्रजभाषा की कविता चाहे मधुर हो, पर यह बात हिन्दीभाषा के लिये बड़ी निन्दा की है और उसके एक बड़े भारी अभाव को दिखाती है कि गद्य तो एक प्रकार की भाषा जो उन्नीसवीं शताब्दी में उत्पन्न हो संपन्न हुई, लिखा जाय और पद्य पुरानी भाषा में। पर हमारी आधुनिक हिन्दी अभी केवल एक शताब्दी की हुई है, इसलिये यदि यह अभाव वर्तमान है तो कोई दुःख की बात नहीं है। इसके बिपरीत यदि यह अभाव न रहता तो निस्सन्देह हिन्दी की उन्नति पर आश्चर्यित होने का अवसर था। परन्तु इन बातों के कहने से तात्पर्य यह है कि हिन्दीभाषा के लेखकगण इस ओर ध्यान दें और ऐसा करें कि जिसमें इस बीसवीं शताब्दी में इस त्रुटि की भी पूर्ति होजाय और हिन्दी सर्वाङ्ग-पूर्ण हिन्दी कहला सके। हमको विश्वास है कि सरस्वती इस अभाव की पूर्ति के लिये कुछ सहायता पहुंचा सके।

अस्तु, इस नवीन शताब्दी के साथ हमारी इस सरस्वती पत्रिका का दूसरा वर्ष प्रारम्भ हुआ। इसके प्रथम वर्ष की अवस्था में लोगों को पहिले पहल इस पर अनेक प्रकार के सन्देह हुए और कुछ उदार हृदय महानुभावों ने तो निरन्तर अपने कृपामय कटाक्षों से हो इसकी अंग पुष्टि समझी। हम इन सब महाशयों के हृदय से कृतज्ञ हैं, क्योंकि किसी न किसी प्रकार से वे हमारे सहायक ही हुए। हमारी इन सब महानुभावों से प्रार्थना है कि वे इस पत्रिका पर सदा ऐसी ही कृपा बनाए रहें।

इस वर्ष से इस बात का भी प्रबन्ध किया गया है कि लेखकों को यथा सामर्थ्य कुछ पुरस्कार भी

अर्पित किया जाय। यद्यपि सरस्वती अभी इस योग्य नहीं हुई है कि लेखक महाशयों की उनकी योग्यता और उनके लेखों के अनुसार सेवा कर सके, पर जो कुछ सेवा हो सकेगी, हमें पूर्ण विश्वास है कि इसके लेखक गण उसे सादर स्वीकार कर इसके प्रकाशकों के उत्साह को बढ़ा, इस पत्रिका को चिर-स्थायिनी बनाने में सहायक होंगे।

इस स्थान पर कदाचित् यह लिख देना किसी प्रकार से अनुचित न होगा कि सरस्वती के प्रकाशक महाशय का उत्साह और उद्योग अत्यन्त ही सराहनीय और अनुकरणीय है, वास्तव में हिन्दी को ऐसे ही उदार हृदय महानुभावों की सहायता की आवश्यकता है। प्रकाशक महाशय इस लेख द्वारा सम्पादक समिति को, कि जिसका सम्बन्ध इस वर्ष के प्रारम्भ से कई कारणों से इससे छूटता है, अनेक धन्यवाद देना चाहते हैं और यह स्पष्ट शब्दों में कहा चाहते हैं कि समिति के योग्यता पूर्वक इस पत्रिका को वर्ष भर चलाने से वे उसके अत्यन्त बाधित हैं।

अन्त में हमारी प्रार्थना हिन्दी के लेखकों और प्रेमियों से है कि वे इस पत्रिका पर सदा कृपा बनाए रहेंगे और इसकी उन्नति में सदा दत्तचित्त रह कर सम्पादक और प्रकाशक दोनों को अनुगृहीत करेंगे और हिन्दी की उन्नति में सहायक हो अपने परम कर्तव्य का पालन करेंगे।

हिन्दी काव्य (आलोचना) की समीक्षा

पण्डित श्यामबिहारी मिश्र, एम. ए., और पण्डित शुकदेवबिहारी मिश्र, बी. ए., महाशयों ने सरस्वती के प्रथम भाग की बारहवीं संख्या में "हिन्दी काव्य (आलोचना)" शीर्षक एक प्रबंध लिखा है। उस प्रबंध से उक्त महाशयों का मुख्य अभिप्राय यही है 'जिसमें काव्य-प्रणाली एक प्रकार से स्थिर और निर्धारित हो जाय।' बात तो बहुत अच्छी है, पर हमे खेद के साथ कहना पड़ता है कि उस लेख से उक्त महाशयों का वह अभिप्राय किञ्चिन्मात्र भी सिद्ध न हो सका, वरन नवशिक्षित काव्य-रसिकों को उलझन में डालने का एक उपक्रम हुआ। अतएव हम उक्त महाशयों के उस प्रबन्ध का निराकरण करना अत्यावश्यक समझते हैं, जिसमें काव्य के वे रसिक, जो इस (काव्य) के निगूढ़ तत्व को पूर्ण रीति से नहीं जानते, उक्त महाशयों के निर्धारित लक्षण के गुणदोष को भलीभांति समझ लें।

जब बाबू जगन्नाथ दास (रत्नाकर) ने साहित्य-रत्नाकर (काव्यनिरूपण खण्ड) में काव्य के यथार्थ लक्षण को पूर्ण रीति से निर्धारित कर ही दिया है तो फिर मिश्र जी का यह कहना कि,—"काव्य का कोई लक्षण तक अद्यापि पूर्ण रूप से संस्थापित नहीं है," अनुचित है।

उक्त प्रबंध के पढ़ने से जान पड़ता है कि मिश्र जी ने रत्नाकर जी के "काव्य निरूपण खण्ड" को देखा है। परन्तु यदि वे "काव्य निरूपण खण्ड" को मनोनिवेश पूर्वक पढ़कर उसके निगूढ़ तत्व को हृदयंगम करने में समर्थ होते, तो उन्हें काव्य के यथार्थ लक्षण के लिये न तो स्वयं श्रम स्वीकार करना पड़ता और न निजकृत लक्षण की भूल-भुलैयां में आप ही आप भटकना पड़ता।

काव्य-लक्षण के संबन्ध में मिश्र जी का अभिप्राय वही है जो रत्नाकर जी का है, परन्तु त्रुटि उसमें इतनी ही है कि न तो वे रत्नाकर जी के लक्षण को स्वयं समझ सके हैं और न अपने काव्य-लक्षण में निज हृद्गत भाव ही को, जैसा कि उनका मत है, यथार्थ रूप से व्यक्त करने में समर्थ हुए हैं।

(१) मिश्र जी लिखते हैं कि,—बाबू जगन्नाथ दास (रत्नाकर) बी. ए. ने अपने साहित्य-रत्नाकर (काव्य निरूपण खण्ड) में कतिपय लक्षणों का

खण्डन कर जगन्नाथ पण्डितराज के लक्षण को सर्वश्रेष्ठ माना है, परन्तु उसमें भी कुछ परिवर्त्तन कर दिया। यथाः (१) "रमणीयार्थ-प्रतिपादक शब्दः काव्यम्" (अर्थात् रमणीय अर्थ का प्रगट करने वाला शब्द काव्य है)–'जगन्नाथ पण्डितराज'। (२) "होय वाक्य रमणीय जो काव्य कहावै सोय"–'रत्नाकर'। इन दोनों लक्षणों में इतना ही विभेद है कि प्रथम में अर्थ और द्वितीय में वाक्य की रमणीयता प्रधान मानी गई है। यदि पण्डितराज का मत ग्रहण कीजिए तो चित्रकाव्य और पद लालित्य लक्षण के बहिर्गत हो जाते हैं और यदि रत्नाकर जी का प्रमाण मानिए तो ऐसे निर्माणों को जिनमें भाव कैसाही उत्तम क्यों न हो परन्तु वाक्य (अर्थात् बोली, भाषा या पदों की) रमणीयता न हो, काव्य न कह सकिएगा, क्योंकि "वाक्य" का अर्थ "शब्द और अर्थ या उनमें से एकभी" यह कदापि नहीं हो सकता। अतः ये दोनो लक्षण पाठक को पूर्णतया संतुष्ट नहीं कर सकते।

अब सुनिए, रत्नाकर जी ने जगन्नाथ पण्डितराज के लक्षण को प्राचीन लक्षणों में श्रेष्ठ माना है। कुछ स्वयं उन्होंने उस लक्षण को स्वीकार नहीं किया। और यह भी विदित हो कि रत्नाकर जी ने पण्डितराज के लक्षण में कुछ परिवर्त्तन भी नहीं किया है। वरन् उन्होंने पण्डितराज के लक्षण का खण्डन करके, अपना स्वतंत्र लक्षण निर्मित किया है। यदि वे पण्डितराज के लक्षण को स्वीकार करते तो उन्हें फिर उसका खण्डन करके नवीन लक्षण के निर्माण करने की क्या आवश्यकता थी?

मिश्र जी ने जो यह लिखा कि,—"प्रथम में अर्थ और द्वितीय में वाक्य की प्रधानता मानी गई है।"

ये दोनों अर्थ निस्सन्देह मिश्र जी बहुत ठीक समझे हैं। परन्तु उक्त महाशय जो यह लिखते हैं कि "और जो रत्नाकर जी का प्रमाण मानिए तो ऐसे निर्माणों को जिनमें भाव कैसा ही उत्तम क्यों न हो परन्तु वाक्य (अर्थात् बोली भाषा या पदों) की रमणीयता न हो काव्य न कह सकिएगा"। इसीमें प्रष्टव्य है कि यह अर्थ उन्होंने कहां से पाया? क्या रत्नाकर जी ने अपने लक्षण का यह अर्थ कहीं किया है? मुझे तो जहां तक ज्ञात है, कदापि ऐसा अर्थ न तो लक्षणकर्ता ही ने किया है और न वाक्य के सामान्य लक्षण और अर्थ से यह भाव निकलता है। वरन् रत्नाकर जी तो स्पष्ट यह लिखते हैं कि,—"यदि पद्मबंधादि काव्य मानें जाय तोभी इस लक्षण की अव्याप्ति न होगी और यदि उनमें रमणीयता का अभाव कह कर उनको काव्य न माने, तोभी इस प्रकार से लक्षण करने में कोई हानि नहीं। क्योंकि जब उनमें रमणीयता है ही नहीं तो उनमें लक्षण की अतिव्याप्ति भी नहीं हो सकती और इस लक्षण का अभिप्राय वही ठहरा जो पण्डितराजकृत लक्षण का है। अतएव चाहे पद्मबंधादि रमणीयता के भावाभाव से काव्य माने जायँ, चाहे न माने जायँ, यह लक्षण दोनों अवस्थाओं में ठीक रहता है।"

इसका फलितार्थ यही है कि चाहे शब्द चमत्कृति से रमणीयता हो, चाहे अर्थ चमत्कृति से, या दोनो से; तीनों ही अवस्था में रत्नाकर जी का लक्षण शुद्ध और उपयुक्त जान पड़ता है। मिश्र जी महाशय ने जो "वाक्य" का अर्थ "बोली, भाषा या पद" किया सो किस प्रमाण से, अर्थात् "बोली, भाषा, या पद" वाक्य को कहते हैं, ऐसा कहां लिखा है?

मिश्र जी कहते हैं कि, "'वाक्य' का अर्थ 'शब्द और अर्थ या उनमें से एक भी' यह कदापि नहीं हो सकता है।" सो यह कौन कहता है कि हो सकता है। क्योंकि वाक्य को शब्द या अर्थ अथवा शब्दार्थ नहीं कहते। और न केवल शब्द-समूह-मात्र ही को वाक्य कहते हैं। अतएव "वाक्य" का अर्थ क्या है? इसे हम लिखते हैं और हमें आशा है कि रत्नाकर जी का भी यही अभिप्राय होगा।

जो सुना जाय, उसे शब्द कहते हैं, जो ध्वन्यात्मक और वर्णात्मक भेद से दो प्रकार के हैं। उनमें अन्तिम भी दो प्रकार के हैं, सार्थक और निरर्थक। अर्थवान् शब्द सार्थक कहाते हैं, इनके तीन भेद हैं। संज्ञा, क्रिया और अव्यय। अव्यय को उन दोनो के साहचर्य के कारण छोड़ दें तो केवल दो ही बचे, अर्थात् संज्ञा और क्रिया, तो ये ही दोनो जब वाक्य में व्यवहृत होने की योग्यता प्राप्त करते हैं, तब वे पद कहलाते हैं। पाणिनि ने भी कहा है (तिङ् सुबन्तं पदं) अतएव पदों (शब्दों) के ऐसे समूह को वाक्य कहते हैं जो कि अर्थ बोध कराने में स्वयं पूर्ण हों। यही मत दर्पणकार का भी है (वाक्यं स्याद्योग्यताकांक्षासत्तियुक्तः पदोच्चयः) फिर तो वाक्य को बोली, भाषा या पद कहना अयुक्त है।

अब बिचारने से स्पष्ट ज्ञात होता है कि वाक्य और शब्द में वही संबन्ध है, जो मनुष्य और आत्मा में। किन्तु वह संबन्ध नहीं है जो शरीर और आत्मा में है। जैसे आत्मा-विगत, मृतक शरीर को मनुष्य कहना अनुचित है, उसी प्रकार अर्थहीन शब्दसमूह को वाक्य कहना अयुक्त है। शब्द निस्सन्देह सार्थक और निरर्थक दोनों प्रकार के हो सकते हैं, क्योंकि शब्द और अर्थ में वही सम्बन्ध है जो शरीर और आत्मा में। परन्तु अर्थरहित शब्द-समूह वाक्य कहला ही नहीं सकते। अतएव वाक्य की रमणीयता से शब्दों की रमणीयता मान ग्रहण करना कदापि युक्ति-संयुक्त नहीं है। क्योंकि शब्द-समूह-मात्र को वाक्य नहीं कहते। वरन् वाक्य की रमणीयता से शब्दों के सार्थकसमूह की रमणीयता ग्राह्य है। यह रमणीयता तीन प्रकारसे आ सकती है। अर्थात् अर्थचमत्कृति, शब्दचमत्कृति और शब्दार्थचमत्कृति से। अतएव इन तीनों कारणों में से एक के भी उपस्थित रहने से वाक्य की रमणीयता हो जायगी। यदि रत्नाकर जी यह कहते कि "होय शब्द रमणीय जेहि वाक्य काव्य है सोय" तो निस्सन्देह मिश्र जी के आरोपित दूषण होते।

यहां तक तो हमने रत्नाक[illegible] समर्थन करने के निमित्त संक्ष[illegible] लिखा, अब हम कुछ मिश्र जी [illegible] में लिखते हैं।

मिश्र जी कृत लक्षण यह है–

"वाक्य अर्थ वा एक हूं जहँ रमणीय ह[illegible]

इस लक्षण से प्रतीत होता है कि भ्रम[illegible] जी ने वाक्य का अर्थ शब्द समझ लिया [illegible] जब दो पदार्थों के विषय में यह कहा ज[illegible] चाहे एक भी अमुक प्रकार का हो तो यह[illegible] निर्धारित होता है कि एक को छोड़ कर [illegible] का उस प्रकार का होना संभव है, परन्तु वा[illegible] अर्थ के विषय में यह बात कदापि नहीं [illegible] सकती, क्योंकि अर्थ में रमणीयता होते[illegible] की रमणीयता प्राप्त हो जाती है। अतएव [illegible] ही व्यर्थ है। हां, यदि मिश्र जी इस प्रका[illegible] तो अवश्य अपना मन्तव्य प्रकाशित कर स[illegible]

"शब्द अर्थ पुनि दुहुनि में एकहु जिहिं र[illegible]
वाक्य कहावत काव्य सो कहु लक्षण[illegible]

यदि मिश्र जी का अभिप्राय यही [illegible] अर्थ वही है जो इस लक्षण का–

"होय वाक्य रमणीय जो काव्य कहा[illegible]

अतएव इस लक्षण का खण्डन करना[illegible] भ्रम मूलक तथा भ्रमोत्पादक मात्र है।

लक्षण के विषय में इतना लिख कर [illegible] संक्षेपतः उक्त लेख की ओर भी एकाध बा[illegible] लिखते हैं–

मिश्र जी लिखते हैं कि "तुकान्त क[illegible] ही न हो तो हानि कुछ भी नहीं और सुगमता बहु[illegible] हो सकती है। पदान्त में विश्राम-चिह्न-रहित छन्द[illegible] का लिखना भाषा-साहित्य-प्रणाली में एक दूषण माना गया है, पर हम तो इसे गुण कहेंगे। क[illegible] जब उमंग में आकर लेखनी को चञ्चल करत[illegible]

सका भाव नहीं समा सकता, तात् छन्द ऐसे झोंके खाता र जिमि लघु तरनी', फिर यह काट छांट कर के उसको एक ठूंस दे ?" इत्यादि।

हम मिश्र जी से यह पूछते हैं कि 'पद' क्या अभिप्राय है ? पूर्ण छन्द, चरण, न्य या क्या ? और ऐसा नियम कहां लिखा हीं तुक में कवि अपना भाव तोड़ मड़ोर दे ? यह तो कवि की इच्छा पर निर्भर है वह अपने भाव को एक ही तुक में पूर्ण वार पांच छन्दों में पूर्ण करे। परन्तु जो तिरिक्त फुटकर कवित्व हैं, उनमें एक ही कवि को निज भाव का समावेश करना व यह स्वच्छन्दता ही है तो फिर इसमें क्या बाधा हुई ? हमारी समझ का प्रयोग सुगमता का विघातक कदापि

को सोचना चाहिए कि वास्तविक है जो भाव पर अपना पूर्ण अधिकार उसे यह पूर्ण शक्ति प्राप्त है कि जितने और जिन छन्दों या उनके चरणों में ने भाव को स्वच्छन्दता से व्यक्त कर सकता कवि की इसी शक्ति का नाम प्रौढ़ता है।

वही है, जिसका शब्द-सागर पर पूर्ण ो, वह जब किसी भाव या तुकान्त के प्रतीक्षा करे उस समय उसके सन्मुख हाथ बांधे और यों प्रार्थना करते हुए हों कि "आप हमें स्थान दीजिये, आप हमें कीजिए" इत्यादि; उस समय कवि उनमें एक को मनोनीत कर और सबको विदा कर दे। जैसे राजा जब एक सेवक की खोज करता है तो पांच हज़ार सेवकों की दरख़ास्तें गुज़रती हैं, पर राजा उनमें से अपने कार्य्य योग्य किसी एक को चुन शेष को बिदा कर देता है।

और वह राजा क्या जिसे खोजने से भी एक सेवक न मिले ! वैसे ही वह कवि नहीं, वरन् रंक है, जो शब्दों पर अपना आधिपत्य न रख कर, उन्हीं को अपना अधिपति बना डाले, तो जिनमें "प्रतिभा" के अभाव से ऐसी रंकता है, वे कवि कहलाने या काव्य निर्माण करने के अधिकारी कदापि नहीं हो सकते। उन लोगों को उचित है कि समस्त स्वच्छन्दता का आकर "गद्य" ही लिखा करें। क्योंकि तुकान्त के रहित करने मात्र से स्वच्छन्दता नहीं मिल सकती, वरन् छन्दों के लघु, गुरु, मात्रादि के प्रपंच तो और भी स्वच्छन्दता-विघातक हैं। इस विषय में रत्नाकर जी ने समालोचनादर्श नामक निबंध में क्या ही अच्छा कहा है—

"जात खड़ी बोली पै कोऊ भयो दिवानो।
कोउ तुकान्त बिन पद्य लिखन में है अरुझानो ॥
अनुप्रास प्रतिबंध कठिन जिनके उर मांही।
त्यागि पद्य प्रतिबंधहु लिखत गद्य क्यों नाहीं ?
अनुप्रास कबहूं न सुकवि की शक्ति घटावैं।
बरु सच पूछौ तो नव सूझ हियैं उपजावैं ॥"

यद्यपि संबन्धातिशयोक्ति आदि अनेक विषयों पर लिखना शेष रह गया है, पर लेख बढ़ जाने से हम इसे यहीं समाप्त कर देते हैं। और आशा करते हैं कि जगदीश्वर की कृपा हुई तो "साहित्य" शीर्षक प्रबन्ध में काव्य के अङ्गों के वर्णन में हमारे वक्तव्य मिश्र जी के प्रबन्ध का भी सम्यक उत्तर दे देंगे। और हम मिश्र जी से इस समीक्षा के लिये क्षमा मांगते हैं, क्योंकि हमने जो कुछ लिखा है, शुद्ध अन्तःकरण से, कि जिसमें काव्य-लक्षण-जिज्ञासु-जन भ्रम में न पड़ जायं। अतएव इस समीक्षा से द्वेषभाव न समझा जाय, यही मिश्र जी महाशयों से हमारा आन्तरिक निवेदन है।

विद्वद्वर वामन शिवराम आपटे, एम्. ए.

आपूर्णश्च कलाभिरिन्दुरमलो यातश्च राहोर्मुखम् ॥

मालतीमाधव

इस ओर के शिक्षित पुरुषों में से जिन्होंने किसी स्कूल अथवा कालेज में शिक्षा पाई है, वे, तथा संस्कृत से प्रीति रखने वाले अन्य लोग भी, हमारे चरित्र नायक से अवश्य परिचित होंगे। आपटे कृत 'संस्कृत गाइड' ग्रैार 'संस्कृत-अङ्गरेज़ी' तथा 'अङ्गरेज़ी-संस्कृत' कोश इत्यादि ग्रन्थ ऐसे प्रसिद्ध हो रहे हैं कि, प्रत्येक विद्या रसिक के पुस्तक-समुदाय अथवा पुस्तकालय में उनको सादर स्थान दिया गया है। ऐसे लोकविश्रुत विद्वान् को कुटिल काल ने वही गति की जो भवभूति की शिरोलिखित उक्ति में दिखलाई गई है। षोडश कलाओं से परिपूर्ण हुए चन्द्रमा को राहु ने ग्रास कर लिया! वामन राव को भी, विद्या की समग्र कलाओं से बिभूषित होते ही, कालने अपनी कुक्षि में सन्निवेशित कर लिया!! उनका पूर्ण अभ्युदय होते ही, वे इस नश्यमान संसार की असारता का उदाहरण हो गए। हा!

विद्वानों को अल्पायु होते देख भर्तृहरि को भी खेद हुआ है। उन्होंने कहा है कि, पहले तो ब्रह्मा पुरुषरत्न निर्माण ही नहीं करता ग्रैार यदि करता भी है तो उनके शरीर को क्षणभंगुर बना देता है। इस मूर्खता का कहीं ठिकाना है!

"अहह कष्टमपण्डितता विधेः"

परन्तु कोई कोई महात्मा ऐसे तेजस्वी होते हैं कि अपनी अल्पकालिक स्थिति ही में वे ऐसे ऐसे अपूर्व काम कर जाते हैं जो, साधारण मनुष्यों से, सौ वर्ष पर्यन्त जीवित रहने पर भी, पूर्ण नहीं हो सकते। सायङ्काल ग्रैार प्रभात की शोभा यद्यपि क्षण मात्र ही दृग्गोचर होकर लोप हो जाती है, तथापि वह उतने ही समय में लोगों को अलौकिक आनन्द दे जाती है। अङ्गरेज़ी कवि ब्यन जानसन ने कहा है :—

In small proportions we just beauties see;
And in short measures life may perfect be.

सतारा ज़िले में सावन्तवाड़ी नामक एक स्थान है। उसके अन्तर्गत आसोलीपाल नामक ग्राम में, सन् १८५८ ई० में, वामनराव का जन्म हुआ। वामन राव जब तीन ही वर्ष के थे तभी उनके पिता शिवराम रावजी आपटे ने अपनी जीवन-लीला सम्वरण की। वामनराव के पिता के मरने पर उनकी विधवा माता अपने लडकों को लेकर जीवन निर्वाह करने के निमित्त कोल्हापुर आई। वहां भी उस साध्वी का पीछा दुर्दैव ने नहीं छोड़ा। कोल्हापुर में उसके एक १५ वर्ष के पुत्र को निर्घृण मृत्यु नें उदरसात् कर लिया। पति भी गया; एक पुत्र भी गया! इस दुःख परंपरा को वामन राव की माता नहीं सहन कर सकी। शोकाकुल होकर, वहीं कोल्हापुर में, वह भी अपने पति ग्रैार पुत्र की अनुगामिनी हुई। आठ ही वर्ष के वय में वामनराव निराश्रय ग्रैार अनाथ हो गए। पिता भी नहीं! माता भी नहीं!!

अनाथों का नाथ ईश्वर है। निराश्रयों का आश्रय भी वही है। वामनराव यद्यपि माता-पिता हीन होगए, तथापि, वे, अकारण-कारुणिक परम पिता जगदीश्वर के पूर्ववत् वात्सल्य भाजन बने रहे। उसीने उन पर अपना वरदहस्त रखकर, ग्रैार इस अपरिमेय दुःख को सहन करने की शक्ति देकर, उनको धैर्य धारण करने में समर्थ किया।

दक्षिण में दरिद्र ब्राह्मणों के लड़के-विशेषतः विद्यार्थी-भिक्षा से अपना जीवन निर्वाह करते हैं। वामनराव को भी यह वृत्ति अवलम्बन करनी पड़ी।

पौराणिक वामन जी की वृत्ति को स्वीकार करने के लिए, दुर्दैवद्वारा, इस प्रकार, विवश किए जाने पर; वामनराव ने अपने वामन नाम को सार्थक कर दिया । 'सार्थक,' हम इसलिये कहते हैं, क्योंकि वे खर्वाकृति भी थे और काम भी उनको वामन का करना पड़ा । इस प्रकार आठ ही वर्ष के वय से महादरिद्रावस्था में रह कर और भिक्षाटन से उदर पूर्ति कर वामनराव ने विद्या सम्पादन करना आरम्भ किया । दो, तीन वर्ष में मराठी भाषा भली भांति सीख कर, वे कोल्हापुर की अङ्गरेज़ी पाठशाला में प्रविष्ट हुए । वहां जाने पर भी उनकी वृत्ति वही बनी रही । उसमें अन्तर नहीं हुआ । उनको गणित और संस्कृत में बड़ा अनुराग था । इन विषयों में वे अपने सहपाठियों की सहायता करते थे और उनको प्रसन्न करके उनकी पुस्तकें मांगकर अपना काम चलाते थे । पुस्तकों की भी भिक्षा ! वस्त्र की भी भिक्षा !! अन्न की भी भिक्षा !!! भिक्षा ही पर उनका जीवन निर्भर था । ऐसी विपन्न दशा में रह कर भी वामनराव ने बड़े परिश्रम से विद्याध्ययन में चित्त लगाया । वे इतने कुशाग्र बुद्धि थे कि अपनी कक्षा में उनका सदैव उच्चासन रहता था । वामनराव को, अपने सहाध्यायी लड़कों को संस्कृत और गणित सिखलाते देख, उनके प्रधान शालाध्यापक ने उनसे कहा था कि "वामन ! तू एक प्रसिद्ध अध्यापक होगा" ! यह भविष्यवाणी सत्य निकली ।

१८७३ ई० में वामनराव एन्ट्रन्स (Matriculation) परीक्षा में उत्तीर्ण हुए । उस समय उनका वय केवल १५ वर्ष था । इस परीक्षा में, उन्होंने, संस्कृत में, ऐसी प्रवीणता दिखलाई कि, उनको २५ रुपये की छात्र वृत्ति मिली । इस समय उनको, अपनी चिरपरिचित भिक्षा वृत्ति को नमस्कार पूर्वक बिदा करना पड़ा । तदनन्तर वामनराव ने डेकन कालेज में प्रवेश किया और १८७५ में एफ़० ए०, १८७७ में बी० ए० और १८७९ (२१ वर्ष के वय में) एम्० ए० में उन्होंने उत्तीर्णता प्राप्त की । जिस वर्ष वे एफ़० ए० की परीक्षा में सफल हुए, उस वर्ष से उनको कई छात्र वृत्तियां मिलने लगीं, और लगभग ५० रु० मासिक की प्राप्ति का द्वार उनके लिए खुल गया । एम्० ए० की परीक्षा में वामनराव ने ऐसी योग्यता दिखलाई और इतने सम्मान सहित वे उत्तीर्ण हुए कि उनको उस उपलक्ष में ४०० रुपये उपहार मिले ।

वामनराव का विवाह, पूना निवासी गणेश वासुदेव जोशी की कन्या से १८७७ ई० में हुआ । गणेश वासुदेव एक सर्वप्रिय, सर्वमान्य और धनी पुरुष थे । उन्होंने वामनराव की अकिञ्चनता का किञ्चिन्मात्र भी विचार न करके, केवल उनकी विद्वत्ता, बुद्धिमत्ता और सदाचरण पर लुब्ध होकर अपनी कन्या उनको समर्पण की । इससे व्यक्त होता है कि गणेश वासुदेव ने विद्या के सम्मुख सधनता आदिक और बातों को तुच्छ समझा । वामनराव की पत्नी यद्यपि एक धनी के घर की थी तथापि ऐसा सद्गुणी पति पाकर उसको वामनराव की निर्धनता स्वप्न में भी दुःख दायिनी नहीं हुई; उलटा उसने, इस संयोग से, अपने को परम भाग्यशालिनी माना । सुनते हैं वह रूपवती न थी; तथापि पति और पत्नी दोनों ने अपने अपने सद्गुणों से एक दूसरे को ऐसा मोहित कर लिया था कि, परस्पर कभी कलह, मतद्वैध अथवा किसी प्रकार का अप्रिय व्यवहार नहीं हुआ । वामनराव को इस पत्नी से दो कन्यायें हुईं और एक पुत्र हुआ; परन्तु, खेद है, पुत्र नहीं रहा । कन्या भी, शायद, एक ही इस समय जीवित है ।

दक्षिण में विष्णुकृष्ण शास्त्री चिपलूणकर एक विद्वान् पुरुष हो गए हैं । उनके कई एक मराठी निबन्धों का अनुवाद नागपुर निवासी पण्डित गङ्गाप्रसाद अग्निहोत्री ने नागरी में किया है । तद्द्वारा शास्त्री जी की विद्वत्ता और उनके नाम से नागरी



विद्वद्वर वामन शिवराम आपटे, एम. ए.

1858 - 1892

के प्रायः सभी प्रेमी परिचित होगए हैं। ये संस्कृत और अङ्गरेज़ी दोनों के परम विद्वान् थे और मराठी में 'निबन्ध माला' नामक मासिक पुस्तक निकालते थे। यह पाठशाला में अध्यापक थे। परन्तु कई कारणों से इनकी 'निबन्धमाला' के निकलने में प्रतिबन्ध होने लगा; अतएव दास्यरूपी रजतशृङ्खला इन्होंने तोड़ डाली और स्वतन्त्र होकर ये देशोपकार करने पर कटिबद्ध हुए। इन्होंने अपने मित्र गोपाल गणेश आगरकर एम्० ए० और बालगङ्गाधर तिलक बी० ए० की सहायता से 'न्यू इंग्लिश स्कूल' नामक एक पाठशाला स्थापित की। वामनराव आपटे भी, विष्णु शास्त्री की भांति, पहले अध्यापक होगए थे; परन्तु इन्होंने भी सरकारी नौकरी छोड़ दी और छोड़ कर ये भी अपने इस मित्रत्रितय के साथी हुए। १८८० ई० में यह पाठशाला स्थापित हुई। इसी के साथ 'केसरी' और 'मराठा' नामक दो पत्र भी निकलने लगे। पहला मराठी में और दूसरा अङ्गरेज़ी में। 'केसरी' में प्रायः विष्णु शास्त्री के लेख निकलते थे और 'मराठा' में वामनराव आपटे के। इन पत्रों के ऊपर १८८२ ई० में कोल्हापुर के एक प्रतिष्ठित पुरुष ने मानहानि का अभियोग चलाया; जिसका फल यह हुआ कि, आगरकर और तिलक को कारागार सेवन करना पड़ा। इस घटना से यह सिद्ध हुआ कि आगरकर, आपटे, तिलक, चिपलूणकर और पांचवें नामजोशी—इन पांचों मित्रों का आत्मा एक था; शरीर मात्र पृथक् था। लेख लिखा औरों ने, परन्तु उसका दुष्परिणाम भोगा दूसरों ने ! जिस वर्ष यह घटना हुई उसी वर्ष अर्थात् १८८२ ई० में विष्णु शास्त्री चिपलूणकर इस लोक से चल बसे। इन कारणों से यह शङ्का उत्पन्न हुई कि 'न्यू इंग्लिश स्कूल' भी अब अस्त हो जायगा। परन्तु ऐसा न हुआ। वामनराव ने ऐसी कार्यदक्षता दिखलाई कि स्कूल का बन्द होना तो दूर रहा, उलटा उसका उत्कर्ष प्रतिदिन होने लगा।

'न्यू इंग्लिश स्कूल' का अध्यापक वर्ग ऐसा कार्य पटु, विद्वान, चतुर और परिश्रमी था कि स्कूल की परिक्षाओं का फल बहुत ही अच्छा होने लगा और उसकी ख्याति प्रति दिन बढ़ने लगी। इस पाठशाला का यहां तक उत्कर्ष हुआ कि १८८५ ई० में यह कालेज कर दी गई और 'फरगुसन कालेज' इसका नाम हुआ। तब से वामनराव इस कालेज के प्रधान शिक्षक नियत हुए। भिक्षारत बालक वामन,' प्रिन्सिपाल वामन शिवराम आपटे एम्० ए० कहलाया जाने लगा!

१८८५ से १८९२ ई० तक वामनराव ने 'फर्गुसन कालेज' की प्रधानाध्यक्षता बड़ी ही दक्षता से निवाही। इनके प्रयत्न से कालेज की अधिकाधिक उन्नति होती गई। इनकी शिक्षण पद्धति बहुत ही प्रशंसनीय थी। इनसे इनके छात्र सदा प्रसन्न रहते थे। विशेषतया जब ये संस्कृत के काव्य और नाटकों की मीमांसा करने लगते थे तब इनके विवेचन से इनके विद्यार्थियों को पराकाष्ठा का आनन्द होता था और विवेचित विषय उनके हृत्पटल में तत्काल अङ्कित होजाता था।

इस प्रकार १२ वर्ष पर्यन्त अपनी अपूर्व अध्यापन शक्ति से महाराष्ट्र देश को उत्तमोत्तम शिक्षा प्रदान करके अकाल ही में वामनराव ने परलोक के लिए प्रस्थान किया। ९ अगस्त १८९२ को-अर्थात् केवल ३४ वर्ष के वय में, वे अल्पायु हो गए! महाराष्ट्र देश का एक अलौकिक रत्न खो गया !! संस्कृत का अनन्यभक्त सर्वदा के लिये तिरोहित हो गया !!! इनकी मृत्यु से इनके मित्र-मण्डल और छात्र वर्ग को ही नहीं किन्तु महाराष्ट्र देश भर को असह्य दुःख हुआ। जस्टिस तेलङ्ग, डाक्टर भाण्डारकर, तथा डेकन कालेज और एल्फिन्स्टन कालेज के प्रिन्सिपाल ने भी बहुत शोक किया। यहां तक कि मुम्बई के गवर्नर लार्ड हैरिस तक ने

इनके गुणों की प्रशंसा करके खेद प्रदर्शित किया *।

आपटे ने 'संस्कृत-अंग्रेज़ी' और 'अंगरेज़ी-संस्कृत' कोश, 'संस्कृत-गाइड,' 'प्राग्रेसिव एक्सरसाइजेज़' और 'कुसुम-माला' नामक कई उत्तमोत्तम पुस्तकें लिखी हैं। इनका बनाया हुआ कोश बहुत ही उपयोगी है। इस कोश की प्रशंसा बड़े बड़े विद्वानों ने की है। इनके 'संस्कृत-गाइड' की भी जितनी प्रशंसा की जाय थोड़ी है। इसमें आपटे ने अपने असाधारण संस्कृत ज्ञान का पूरा पूरा उदाहरण दिखलाया है। इस ग्रंथ के प्रसाद से, संस्कृत-भाषानुरागी अनेक विद्यार्थीगण, इस समय, अपरिमेय लाभ उठारहे हैं। 'संस्कृत-गाइड' आपटे की संस्कृत पारदर्शिता का आदर्श है। संस्कृत साहित्य में जितने अच्छे अच्छे ग्रन्थ हैं सब से यथेष्ट वाक्यों को उद्धरण कर, उनके द्वारा, इसमें, व्याकरण के नियमों की सिद्धता दिखलाई गई है। शब्द-शास्त्र में आपटे की विलक्षण गति थी। पाणिनि के

शकधृषज्ञाग्लाघटरभलभक्रमसहार्हास्त्यर्थेषु तुमुन्

इस सूत्र पर, सिद्धान्त कौमुदी में, भट्टोजी दीक्षित ने कहा है:—

अर्थग्रहणमास्तिनैव संबध्यते। अनन्तरत्वात्।

दीक्षित के इस कथन का, आपटे ने, अपने 'संस्कृत-गाइड' के 'तुम' प्रत्यय (Infinitive mood) प्रकरण में, सप्रमाण और सयौक्तिक खण्डन किया है। यह पुस्तक इतनी उपयोगी और सर्वप्रिय है कि थोड़े ही काल में इसकी कई आवृत्तियां निकल चुकी हैं।

दारिद्र्यग्रस्त होकर भी अभिरुचि होने से मनुष्य उच्च से उच्च विद्या सम्पादन कर सकता है और अपनी विद्वत्ता के बल से वह अलौकिक प्रतिष्ठा भाजन भी हो सकता है, आपटे के चरित्र से यही शिक्षा मिलती है।

वन-बिहार-पञ्चपदी

पिया हो कसकत कुस पग बीच—
लखन-लाज सिय पिय सन बोली
हरुए आइ नगीच ॥ १ ॥

सुनि तुरन्त पठयो लखनहिं प्रभु
जलहित दूरि सुजान।
लेइ अंक सिय जोवत कुस कन
धोवत पद अँसुआन ॥ २ ॥

बार बार झारत कर सों रज
निरखत छत बिललात।
हाय प्रिये मान्यो न कह्यो, लखु
नहिं बन बिच कुसलात ॥ ३ ॥

सहस सहचरी त्यागि सदन मधि
सासु ससुर सुख कारि।
हठ करि लगि मो संग सहत तुम
हाहा! यह दुख भारि ॥ ४ ॥

कहत जात यों प्रभु बहु बतियां,
तिया पिया की छांह।
देइ गलबहियां चली बिहँसि कहि
यह सुख नाथ अथाह ॥ ५ ॥

---

* लार्ड हैरिस ने पूना-निवासियों से कहा:—

Death has been busy here in the City and Cantonments this last month, and amongst those whom you have to mourn, none, I fancy, has passed away with more sincere and deeper feelings of regret than Mr. Apte. I beg very respectfully to join with you in those feelings. I know what Mr. Apte was doing for education here. I know what a labour of love it has been to him to extend the efforts of educational association with which he was connected, and how successful that labour has been. We can ill-spare such enthusiasts, but we must bow before the greater wisdom of the Almighty. I name Mr. Apte in connection with that doctrine of self-help which I am taking the liberty to inculcate, because I believe him to be a notable instance of a man raising himself to the highest level in his own line by the unaided determination of his character and his self-confidence in his power to succeed.

नाथ कुस साथरी साथ सुहाई—
जो सुख सुखनिधान निसि पाई
सो क्योंहूं न कहाई ॥ १ ॥
चहल पहल निसि राज महल बिच
चेरिन के समुदाई ।
सासु ससुर के अदब न दबकत
दुसह तुम्हार जुदाई ॥ २ ॥
मनभावन मन भावत बतियां
बतराईँ तहँ नाहीँ ।
तातें तहं तें सैागुन सुख वन,
बिहरत दै गलबाहीं ॥ ३ ॥
गगन मगन-सोभा मन-लोभा
देखत नखत निकाई ।
जा छबि आगे सीस महल की
पबि छबि प्रगट फिकाई ॥ ४ ॥
आलस तजि आरसी विलोकहु
मंगल द्विज जुति भाई ।
बिनु गुन माल भली छबि पिय हिय
कहि सिय मुरि मुसुकाई ॥ ५ ॥

पिया जब देखी मैं फुलवरियां—
अस मन भयो धाइ गर लागैं
त्यागि सकल कुल गलियां ॥ १ ॥
लखन लाल मोहिँ सेष सों लागे
बिष सी संग की अलियां ।
लाज भुअंगिनि हंकरति बाढ़ी
निरखि बाग के मलियां ॥ २ ॥
मन चाह्यो पिय संग संग डोलू
चुनू कुसुम की कलियां ।
गूंथि गूंथि अभरन पहिराऊँ
करि पिय संग रंगरलियां ॥ ३ ॥
मन महँ धँसो सांवरी सूरति
फँसी पिता पनजलियां ।
प्रेम नेम दुबिधा तरंग उठि
मची हिये खलबलियां ॥ ४ ॥
धनुस भंगि पितु नेम प्रेम मम
राखि लियो बिधि भलियां ।
सो इच्छा इकांत बिहरन अब,
पुरई भुज गर डलियां ॥ ५ ॥

(पिया हो) मन की मनहीं माहिँ रही—
तुव मन निज कर केस सँवारन
लाजन नाहिं कही ॥ १ ॥
सो घर जरउ जहां निज मन भरि
पिय मन रखि न रही ।
चाहि चाहि मन पछितायो बहु
नाहक नाहिँ कही ॥ २ ॥
सहस सहचरी नित घर घेरत
परी लाज के फंद ।
अँखियां भरि कबहूं नहिँ निरखीं
तुव मुख-पूरन-चन्द ॥ ३ ॥
यह वन निज कर नाथ सँवारत,
वेनी गुंथत बनाय ।
के बड़ भागिनि मो सम तिहुं पुर
यह सुख जाहि जनाय ॥४॥
कोटि मनोज लजावन भावन
तुव छवि पीयत पीय ।
अँखियां बहुत दिनन की प्यासीं
नेकु अघात न हीय ॥५॥

जियत नहिं बे पानी के मीन—
रतनाकर करिवर की मोतिया
बे पानी छवि हीन ॥१॥
बे पानी सर राजहंस लखि
होत बहुत बेहाल ।
तान अलाप मृदङ्ग न भावत
बे पानी के ताल ॥२॥

लहलहात खेतन बिच शाली
बे पानी जु सुखात।
लोह धावहू बे पानी के
छन छन बहुत दुखात ॥३॥

प्राननाथ बे पानी व्यञ्जन
कोऊ न सरस सुहात।
बे पानी के नर नारी जग
अति खल नीच लखात ॥४॥

हम अबला पुनि चार पानि कर
पकरयो आप बनाय।
बे पानी अब तुव अनुगामी
कहो अनत कस जाय ॥५॥

महारानी सूजाबाई

बृहत् वीरभूमि राजपूताने में वीर माता, वीर पत्नी, तथा अनेक वीर रमणी हुई हैं, इन्हीं में से सूजाबाई भी एक हैं। इनकी बड़ी अलौकिक और चित्ताकर्षक कथा है, जिसे आज हम अपने प्रिय पाठकों के आगे प्रकाशं कर आशा करते हैं कि यह कथा उनको मनोरञ्जक होगी।

जिस समय बूँदी का राज्य निज उन्नति साधन में चढ़ा बढ़ा था और राजपूताने के दूसरे राजाओं से सम्मानित हो रहा था, उस समय बूंदी के राज्य सिंहासन पर राजा नारायण दास शोभित थे। यह जैसे रूपवान, गुणवान और शीलवान थे वैसे ही बलवान भी थे। इनकी कीर्त्ति उस समय राजपूताने में घर घर फैली हुई थी, यहां तक कि कुलकामिनियां भी अपने गान में इनका यश गाया करती थीं। जहां इनमें एकाधार से अनेक गुणों ने आश्रय लिया था वहां एक प्रबल दोष ने भी इन्हें निज आधीन कर रक्खा था अर्थात् थोड़ा थोड़ा करते इनमें अफ़ीम का ऐसा अमल बढ़ गया था कि यह पूर्ण रूप से उसके आधीन होगए थे। राजा नारायण दास तथा चित्तौड़ के राणा रायमल में परस्पर बड़ी ही घनिष्ट मित्रता होगई थी।

परस्पर में सुख दुःख में दोनों राजे दोनों के सहायक होते और पूरे मित्र भाव का बर्ताव रखते थे। एक समय चितौड़ के राणा रायमल पर पठानों की सेना आपड़ी और उसने उन्हें घेर लिया। उस समय अपने को विबस देख राणा रायमल ने निज मित्र बूंदी राज नारायणदास को सहायता के हेतु पत्र लिखा। असहाय के सहायक राजा नारायणदास अपने मित्र की बिपद सुनते ही अपनी बीर बाहिनी को ले चितौर की ओर चढ़ दौड़े। निज सैन्य लिए जाते जाते चितौड़ में पहुंचा ही चाहते थे कि मध्यान्ह होजाने के कारण स्नान भोजन का समय जान राजा ने एक ग्राम के निकट किसी स्थान में अपना डेरा डाल दिया। घोड़े पर से उतर, कमर खोल, हाथ मुँह धो, अमल कर, एक वृक्ष की शीतल छाया में पलङ्ग बिछवा, राजा बिश्राम करने लगे। लेटतेही राजा को निद्रा सी आगई। इधर मक्खिओं का झुण्ड मनभाना राजा के मुँह पर आ बैठने लगा। कुछ थोड़ी दूरी पर पनघट का कुआं था कि जहां ग्राम की स्त्रियां जल भरने आया करती थीं। किसी तेली की युवती उसी समय कुएं पर जल भरने आई थी। जल भर गगरी सिर पर धर चली ही थी कि राजा के देखने की उसे उत्कट लालसा हुई इसलिये गगरी लिए उस स्थान में गई जहां राजा नारायणदास पलङ्ग पर पड़े हुए थे। राजा की अवस्था देख तेलिन कहने लगी।

"फूटे राणाजी के भाग, जो ऐसे पिनकी राजा के भरोसे बैठे हैं!"

ऐसा कह लौट के वह चली थी कि वैसे ही राजा चौंक के उठ बैठे और उसकी ओर निहार बोले—

"अरी मरदानी भागी न जा, सुन तो सही।"

इतना सुनतेही बिचारी तेलिन के पाँव भारी पड़ गए, आगे के पाँव न उठा, ठमक के खड़ी होगई, इधर से राजा जाके उसके पास खड़े हुए ग्रौर उन्होंने एक लोहे का मोटा छड़ मंगवाया। उधर मारे भय ग्रौर लज्जा के उसका सारा शरीर पसीने पसीने हो कांपने लगा। राजा ने लोहे का जो दण्ड मंगवाया था, उसका दोनों मुँह पकड़ सहज ही यों झुका दिया जैसे कोई पतली बेंत को मोड़ देता हो ग्रौर हँसली सा बना उसके गले में डाल कर वे बोले—

"जब तक मैं लौट के न ग्राऊं तब तक पहने रह ग्रौर इस बीच में जो कोई बलवान हो तो उससे खुलवा लेना" !

इधर तो हंसली पहिर वह घर गई, उधर राजा ने भी कूच किया, चितैाड़ में पहुंचते ही पठानों की ऐसी मार काट मचाई कि उन्हें भागते ही बन आया। पठानों को भागता देख राणा अपने प्यारे मित्र से मिलने को दैाड़ ग्राए ग्रौर बड़े ग्रानन्द सत्कार से नगर में लिवा ले गए। कुछ पहिले जहां सन्नाटा छाया हुआ था वहां ग्रानन्द बधावा बजने लगा। माङ्गलिक वस्तुग्रों से राजभवन ग्रौर नगर सजाया गया, सारे नगर में ग्रानन्द की तरंगे लहराने लगीं। चितैाड़ के राजा ने बड़े हर्ष ग्रौर उमङ्ग से बूँदी के वीर परोपकारी ग्रौर मित्र राजा का ग्रातिथ्य किया, ग्रौर सहर्ष अपने मित्र की मित्रता, बल ग्रौर विक्रम की बहुत कुछ प्रशंसा की। ग्रतःपुर-निवासिनी कुल बालाग्रों ने भी राज महल तथा निज निज घरों में ग्रानन्द मङ्गल मनाया। ग्रहा, वह भी क्या ही ग्रानन्द का दिन बीत गया है जिस समय यहां वीर पुरुषों की लोग पूजा करते थे, ग्रादर ग्रौर सत्कार करते थे, वीर माता ग्रौर वीर पत्नी अपने को धन्य मानती थीं ग्रौर परोपकार परम पैारुष मानाजाता था।

रनवास में जिस समय ग्रानन्द मङ्गल हो रहा था उस समय राजा नारायणदास की वीरता ग्रौर दूसरे सदगुणों की चर्चा हो रही थी। इन प्रशंसाग्रों को सुन राणा रायमल के भ्राता की पुत्री परम सुन्दरी ग्रनूढा शीलगुण-सम्पन्ना बाला ने चित्त में इस बात की दृढ प्रतिज्ञा करली कि "मैं राजा नारायणदास की रानी होऊंगी नहीं तो जन्मभर कारी ही रहूंगी"। धीरे धीरे रनवास में कानेंा कान यह बात फैल गई। यह चर्चा फैलते फैलते राजा नारायणदास के कानों तक पहुंची जिसे सुन बूंदीराज को भी बड़ा हर्ष हुग्रा ग्रौर इस ग्रलभ्य लाभ के लिये वे उत्कंठित हुए। राणा जी ने सोचा कि बिना प्रयास के ग्रनायास जब ग्राप ही ऐसा सम्बन्ध ग्राता है तो इसमें ग्रागा पीछा या बिलम्ब क्यों करें। ऐसा विचार सहर्ष ग्रपने ग्रभिप्राय को बूंदीराज से कह शुभ बिवाह की वे ग्रायोजना करने लगे। एक तो विजय का उत्सव हो ही रहा था, दूसरे बिवाह का उत्सव प्रारम्भ हो गया। बाहर भीतर ग्रानन्द बधावा बजने लगा। शुभ दिन शुभ मुहूर्त्त में पाणिग्रहण हुग्रा। कई दिनों तक चितैाड़ में ग्रानन्द छाया रहा ग्रौर कुछ दिन के उपरान्त शुभ घड़ी में राजा नारायणदास ग्रपनी नव बिवाहिता को बिदा करा, निज राजधानी को चले। इधर कहां तो राज्य ग्रौर राजमहल में सब लोग चिन्तित हो रहे थे, कहां नव दुलहिन को निरख बड़े ग्रानन्दित हुए। राजा ग्रौर रानी में परस्पर बड़ी ही प्रीति हुई। कुछ दिन के उपरान्त रानी गर्भवती हुई ग्रौर यथा समय एक परम रूपवती कन्या उसने प्रसव की। दिनों दिन यह कन्या दूज के चाँदसी बढ़ने लगी। जैसा इसका शारीरिक सैान्दर्य्य था वैसेही इसका शील स्वभाव भी बड़ा ही सुन्दर था। राजा नारायण दास के एक पुत्र जिसका नाम सूजा ग्रौर एक कन्या सूजा बाई थी। इन दोनो भाई बहिन में बड़ा ही हार्दिक स्नेह था।

काल पाके सन् १५३४ ई० में राजा नारायणदास का शरीरान्त हुग्रा ग्रौर उनके पुत्र सूजा, ग्रपने

कुछ थोड़े से अंगरक्षक सवारों और वनरखों को साथ ले, वन में धँसे। उधर और लोग भी अपने मनमाने पथ से वन में धँसे। जिन बनों में कभी मनुष्य का नाम भी न था वहां आज मनुष्यों की भीड़ घिरी हुई है कि जिन्हें देख निश्चिन्त निर्द्वन्द्व वनविहारी जीवजन्तु अपने अपने प्राणभय से भीत हो भयानक शब्द करते इधर उधर भागे फिरते थे। तात्पर्य्य यह कि उस शान्तिमय बनस्थली में महाकोलाहल होने लगा। जो जिधर जिस जीव को पाता था उन्हें काटता मारता बेधता था, इधर दोनों राजे भी अपनी रूचि के अनुसार चल निकले। जब आखेट प्रारम्भ हुआ तब किसी को किसी की सुध न रही सभी अपने अपने शिकार के लक्ष्य में लीन हुए। इधर राजा सूजा राणा रतनसिंह और उनका एक साथी अपने दल से बिलगाय एक सघन बन में जा निकले। उस समय पापी क्रूर, कुटिल, दुर्बुद्धि राणा ने चिल्ला के अपने साथी से कहा—"लो न बड़ा शिकार, यही तो औसर है, क्यों चूकते हो ?" ऐसा कहते हुए राणा ने अपना बिषाक्त तीर सूजाराज पर चला ही दिया, राजा सूजा पूर्व शब्द सुनते ही चौकन्ने हो ज्योंही अपने को उस तीर से बचा चकित हो कुछ कहा ही चाहते थे कि चट दूसरे तीर ने उन्हें बेध ही दिया, तब उन्हें निश्चय होगया कि पामर दुराचारी कुटिल चक्री के चक्र में पड़, आज इस विजन बन में प्राण जानाही अपने भाग्य में बदा है कि जिस समय कोई भी अपना हितू अपने पास नहीं है। दूसरा तीर ऐसे मर्म स्थान में लगा था कि राजा सूजा घोड़े पर से धड़ाम से गिर पड़े। रक्त की धार बह चली, मारे व्यथा के परम विकल और व्यथित होगए और मारे व्यथा के एक भी शब्द मुँह से न निकला, कुछ मूर्छा सी आगई। मूहुर्त एक में चैतन्य हुआ, उस समय नयन उघार देखा तो उस अन्त काल में अपने को धूल और रक्त में लपटा पड़ा पाया, आगे पीछे कोई भी अपना न दिखाई दिया, कुछ दूर पर घोड़े पर जाता अपना बहनोई दिखाई दिया, उसे देखतेही रक्तमय पीड़ा से व्यथित शरीर में क्रोध की अग्नि सी धधक उठी, चाहा कि उठ खड़े हों पर शक्ति कहां थी, तौ भी ललकार के कहा—अरे क्षत्रिय-कुल-कलङ्क, कहां भागा जाता है इधर आ। इस ललकार को सुनते ही राणा लौटा और पास जाके उनके चाहा कि इस अन्तिम दीपशिखा को भी बुझादें, परन्तु जैसे वह पास आया कि बीर सूजा ने उसकी टंगड़ी पकड़ ऐसा झटका दिया कि चट वह घोड़े के नीचे आपड़ा और साथ ही सूजा ने एक हाथ ऐसा तरवार का मारा कि रतन भी वहां समाप्त होगया, मुँह से शब्द भी न निकलने पाया था कि प्राण पखेरू निकल भागा, इधर सूजा का प्राण भी देह त्याग परलोक को सिधारा।

कहां तो ये दोनों महाराजे वन में हँसते खेलते आखेट खेलने आए थे और कहां औचक कालवली ने मन बुद्धि के अगोचर एक ऐसा खेल खेला कि दोनों राज्य के चमकते हुए प्रदीप को बुझा दिया। जब इस हृदय-विदारिणी अनहोनी घटना का समाचार लश्कर में पहुंचा तो चारों ओर हाहाकार का तुमुल शब्द उस बन प्रदेश में गूंज उठा, रोते पीटते उस स्थान में आ दोनों मृत देहों को ले जिस समय राजधानी में पहुंचे हैं, उस समय बूँदी में करुणा रस का घोर समुद्र सा चारों ओर से उमड़ आया था, उस समय का दृश्य ऐसा करूणोत्पादक था कि जिसे देख सुन पत्थर का कलेजा भी तड़का जाता था। औरों की तो जो गति थी सो तो थी ही, परन्तु अति सुकुमारी परम दुलारी वे अबलाएं कि जिन्होंने आजन्म सिवाय सुख के दुख की परछाँई भी न देखी थी, आज उन दोनों ननद भौजाइयों पर एक साथही ऐसा अकथनीय असह्य घोर दुःख का बादल आ टूटा था कि जिसके बोझ से चकित चित्र सी होगईं। हा! सूजाबाई को उस दिन की रसोईं और अपनी वही बात का स्मरण आतेही अनगिनत काल सर्पों के डसने की सी ज्वाल-माला दग्ध करने लगी। उस समय न उस-

से रोते बनता था न सकते; बड़ी ही व्याकुल और विकल हो रही थी। किसका साहस था कि उन अबलाओं को धैर्य्य दिलाने में एक शब्द भी मुँह से निकालता, अन्तः दोनों अबलाओं ने चिता पर अपने अपने पति को गोद में देखतेले सबके देखते, अति सुकुमार देहों को भस्म में परिणत कर दिखाया। और चिरकाल के लिये अपनी अखण्ड कीर्त्ति वे इस भारतीय इतिहास में छोड़ गईं। धन्य भारत भूमि और धन्य यहां की ललनाएं।

आत्मा

१—आत्मा का लक्षण तर्कसंग्रह में इस प्रकार लिखा है—

ज्ञानाधिकरणमात्मा।

अर्थात् जिसमें ज्ञान रहता है उसे आत्मा कहते हैं। वह आत्मा दो प्रकार का है। एक परमात्मा, दूसरा जीवात्मा। जीवात्मा प्रति शरीर में भिन्न भिन्न है, व्यापक है और नित्य है। परमात्मा सर्वज्ञ है और एक ही है। परमात्मा अर्थात् परमेश्वर का लक्षण पातञ्जल योगसूत्रों में विशेष प्रकार से निर्धारित किया गया है; अतः उसे हम, यहां उद्धृत करते हैं—

क्लेशकर्म्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः।
तत्र निरतिशयं सर्वज्ञबीजम्।

प्रथम पाद–सूत्र २४–२५।

अर्थात्, क्लेश, कर्म्म, कर्म्म के फल और संस्कारों का सम्बन्ध जिसमें नहीं, वह जीव से भिन्न ईश्वर है। उस परमेश्वर में निरतिशय ज्ञान का बीज है। इन सूत्रों पर व्यास जी ने जो भाष्य किया है उसमें लिखा है कि, अविद्यादि को क्लेश, पाप पुण्य को कर्म, कर्म्म के फल को विपाक, एवं फलानुसार वासना को आशय कहते हैं। जैसे संग्राम में जय अथवा पराजय योद्धाओं में होती है, परन्तु आरोपित राजा में की जाती है, वैसे ही आशय यद्यपि मन में होते हैं तथापि जीव में आरोपित किए जाते हैं; क्योंकि जीव ही उनके फल का भोक्ता है। एतादृश क्लेशादिकों से जो सम्बन्ध नहीं रखता वह जीव से पृथक् परमेश्वर है। ज्ञानात्मकता के विषय में व्यास जी कहते हैं कि भूत, भविष्य और वर्त्तमान कालिक ज्ञान यद्यपि अतीन्द्रिय है; तथापि प्राणि मात्र उसको मन से अवश्यमेव ग्रहण करते हैं, चाहे स्वल्प, चाहे अधिक। यही ज्ञान प्रवर्द्धित होकर जिसमें सीमा की पराकाण्ठा को पहुँच जावे वही ज्ञानमय सर्वज्ञ ईश्वर है।

२—इस निबन्ध में हम जीवात्मा ही के विषय में लिखा चाहते हैं; परमात्मा के विषय में नहीं। इस उत्तर जीवात्मा को हम आत्मा के नाम से उल्लेख करेंगे।

३—हमारे प्राचीन दार्शनिक ऋषियों ने आत्मा को द्रव्य माना है। वैशेषिक सूत्रों में नव द्रव्य परिगणित किए गए हैं; यथा–पृथिवी, जल, तेज, वायु, अकाश, काल, दिशा, आत्मा और मन।

पृथिव्यापस्तेजो वायुराकाशं कालो दिगात्मा मन इति द्रव्याणि।

अ. १ आ. १ सू. ५।

अर्थात् जिसमें क्रिया और गुण विद्यमान् हैं, उसे द्रव्य कहते हैं। परन्तु हमारे परमोन्नतिशील अङ्गरेज़ लोगों की धर्म्मपुस्तक के अनुसार आत्मा श्वासोच्छासवत् एक प्रकार का वायु * मात्र है; उसके स्थायित्व का कोई ठिकाना नहीं। जन्म के समय वह वायु नासिका द्वारा शरीर में प्रवेश करता है, और मरण के समय उसी प्रकार किसी छिद्र से बहिर्गत होकर वायुमण्डल में मिल, जाता है।

*. And the Lord God formed the man of the dust of the ground, and breathed into his nostrils the breath of life, and man beca me a living soul. Genises 11-7.

४—चार्लस ब्राडला इत्यादि जो घोर निरीश्वरवादी हो गए हैं, उनके मत में आत्मा कोई वस्तु नहीं; अतएव वह कोई पृथक् द्रव्य नहीं माना जा सकता। इनके मत में * प्राणप्रद, जलप्रद, वातप्रद तथा कोयला जिसके अन्तर्गत रहता है—एतादृश रसायन शास्त्रोक्त चार प्रकार के वायु के संयोग से मनुष्य में चेतनाशक्ति उत्पन्न होती है और इन्हीं-के मिश्रण में व्याघात होने से वह जाती रहती है। परन्तु डाक्टर निकलसन ने पश्वादि † प्राणि सम्बन्धीय विद्याविषयक अपनी एक पुस्तक में लिखा है, कि उन्होंने एक ऐसा छोटा प्राणी देखा है, जिसका आकार चेतनोत्पादक ‡ रस से कुछ ही अधिक होता है, और यद्यपि उसके शरीर में पाचन-क्रिया-कारी कोई अवयव नहीं होते, तथापि उसके भक्ष्य का पाक उतनी ही सुकरता से होता है जितनी सुकरता से सब अवयवों से युक्त अन्य बड़े बड़े प्राणियों का होता है। डाक्टर निकलसन के अनुसार यह कहना ठीक नहीं है, कि शरीर की रचना और आवश्यक अवयवों की घटना सामान्य शारीरिक नियमों से होने ही के कारण उपरोक्त पदार्थों के मेल से चेतनोत्पादक रस उत्पन्न होता है और प्राणियों को जीवित रखता है; क्योंकि आमाशय, हृत्प्रदेश और श्वासोच्छ्वासोपयोगी नासिकादि अवयवों के न होने पर भी यह रस स्वयमेव एकत्र हुआ देखा गया है और केवल जीवित दशा ही में नहीं किन्तु मरणानन्तर भी यह उसी दशा में पाया जाता है।

इससे यह व्यक्त होता है, कि वह रस जिसे ये लोग चेतनाजनक कहते हैं, यथार्थ में प्राणप्रद नहीं है; क्योंकि प्राणोत्क्रमण के अनन्तर भी उसे देख यही बोध होता है, कि उसमें किसी वस्तु की न्यूनता अवश्य हो जाती है, जिसके कारण उस रस के स्थित रहते भी शरीर निश्चेष्ट हो जाता है और प्राणी पञ्चत्व को प्राप्त हो जाता है। उस वस्तु को यह विज्ञान शिरोमणि अपने विज्ञान द्वारा कब जान सकेंगे, यह कौन कह सकता है? परन्तु, हां, हम अपने परम पूज्य ऋषियों के जाज्वल्यमान वैज्ञानिक सिद्धान्तों के प्रताप से उस अज्ञात वस्तु को सहस्रशः वर्षों से "आत्मा" के नाम से अभिहित कर रहे हैं।

५—फिर क्या, आत्मा के अस्तित्व की साक्षी, निरीश्वरवादी पाश्चात्यों ही के देशवासी विद्वान् नहीं देते? शारीरिक शास्त्र के तत्वों के खोज में जिन्होंने निरतिशय परिश्रम किया है उन प्रतिष्ठित विद्वानों के सिद्धान्तानुसार प्राणिमात्र के शरीर में एक ऐसी अद्भुत् शक्ति है जो स्वभाव ही से अपने को रक्षित रखने में तत्पर रहती है। वैद्यक विद्या के पारदर्शी डाक्टर भी इसकी पुष्टि करते हैं और कहते हैं कि जीवधारियों में एक ऐसी रोगहारक शक्ति है जो रोगियों को निरोग करके उन्हें उनकी पूर्व स्थिति को पहुंचाने में सदैव प्रस्तुत रहती है और उसीके कारण सारे रोग नाश को प्राप्त होते हैं; औषधोपचार केवल गौण साधन समझना चाहिए। यह कथन सर्वतोभाव से सत्य जान पड़ता है, क्योंकि यदि ऐसा न होता तो भूमण्डल के समस्त अवाक् पशु औषधोपचार के बिना किसी प्रकार रोग-मुक्त न होते और निरुपाय होकर क्षुद्राति क्षुद्र रोगों के निवारणार्थ हम लोगों को, उन्हें भी, अनेकानेक कल्क, क्वाथ, वटिका, रसादि सेवन कराना पड़ते। इस रोगहारक स्वयंभू शक्ति को डाक्टर लोग अपने अपने बुद्धि वैभवानुसार चित्र विचित्र नाम रखते हैं; परन्तु हमलोग उसे वही द्विवर्णात्मक "आत्मा" कह कर पुकारते हैं।

६—आत्मा में क्रिया और गुण होने के कारण आर्यावर्त के दर्शनशास्त्र-वेत्ताओं ने उसे द्रव्य माना है और लिखा है—

* Oxygen, Hydrogen, Nitrogen and Carbon.

† Manual of Zoology, 6th Ed., page 7.

‡ Protoplasm.

एष हि द्रष्टा, स्प्रष्टा, श्रोता, घ्राता, रसयिता,
मन्ता, बोद्धा, कर्त्ता, विज्ञानात्मा पुरुषः ।

प्रश्नोपनिषत् ।

अर्थात् ज्ञानमय आत्मा ही को पुरुष कहते हैं। वह आत्मा ही है जो देखता है, स्पर्श करता है, सुनता है, घ्राण लेता है, आस्वादन करता है, मनन करता है, जानता है और (समस्त कार्य कलाप) करता है । परन्तु ज्ञान-निष्ट द्रव्य-लक्षण-लक्षित आत्मा को अध्यात्म-विद्या-विशारद कोई कोई पाश्चात्य विद्वान् नहीं मानते; और यदि मानते भी हैं तो उसे निराकार एवं कल्पित और अतात्विक मानते हैं । इस प्रकार का मानना न मानने ही के बराबर है । सूक्ष्मातिसूक्ष्म होने के कारण इन्द्रियों के द्वारा आत्मा का साक्षात्कार नहीं होता; तथापि उसे चेतनाशक्तियुक्त तत्व मानना ही पड़ता है।

७-जिस प्रकार दर्पण तथा अन्य साकार भौतिक पदार्थों का संयोग होने से दर्पण में उन पदार्थों का प्रतिबिम्ब देख पड़ने लगता है; अथवा जैसे मोम के पत्र के ऊपर शिलालेख के अक्षर तद्वत् अंकित हो जाते हैं, वैसे ही आत्मा में सारे भौतिक पदार्थों का ज्ञानात्मक चित्र चित्रित हो जाता है। यदि आत्मा को सत्य नहीं मानते तो एतादृशी घटना कदापि सम्भव नहीं हो सकती; क्योंकि जो यथार्थ में है ही नहीं, उस वस्तु में अन्य वस्तुओं की छाया पड़ना अथवा उनके स्वरूप का प्रतिफलन होना किसी प्रकार युक्ति-सम्मत नहीं; निराकार और कल्पित पदार्थों में साकार पदार्थों का चित्र खचित होते किसीने नहीं देखा । दर्पण चाहै कितना ही सूक्ष्म और मोम का पात्र कितना ही पतला तन्तुमय क्यों न हो, तथापि होना उनका अत्यावश्यक है, क्योंकि बिना उनकी स्थिति के पदार्थों का प्रतिबिम्बित और अंकित होना सर्वथैव असम्भव है । अतएव आत्मा की सत्यता में शंका नहीं हो सकती।

८-अध्यात्म विद्या के वेत्ता योरोपीय विद्वान् कहते हैं, कि जागतिक पदार्थों का प्रथम ज्ञान ज्ञानेन्द्रियों को होता है, फिर मन को होता है और अनन्तर आत्मा को होता है, यदि आत्मा भी यथार्थ में कोई वस्तु है । एतादृशी कल्पना करने से ज्ञानेन्द्रियां और मन दोनों को साकार मानना पड़ता है, क्योंकि आकार रहित वस्तुओं में आकार सहित जड़ात्मक भौतिक पदार्थ कदापि अंकित नहीं हो सकते। फिर मन एक अदृश्य निराकार अन्तरिन्द्रिय है, उसमें कहिए किस प्रकार साकार पदार्थों का रूप निरूपित हो सकता है ? यही दशा दूसरी ज्ञानेन्द्रियों की भी है, जो सर्वतोभाव से निराकार हैं। इन्द्रियों से हमारा अभिप्राय दृग्गोचर शरीर के चक्षुरादि अवयवों से नहीं; किन्तु जिन्हें नेत्रों से देख नहीं सकते, ऐसी स्पर्श, श्रवण, दर्शनादि, ज्ञानात्मक शक्तियों से है। अतः ये निराकार इन्द्रियां भी साकार भौतिक पदार्थों का स्वतन्त्रतया ज्ञान प्राप्त करने में समर्थ नहीं हो सकतीं। एक उदाहरण लीजिए। कल्पना कीजिए, हमारा व्यायाम करने का समय है । इच्छा करते ही हमारे हस्तद्वय नीचे की ओर बढ़ते हैं, और बीस बीस सेर के मुद्गल उठा कर लीलाक्रम से उन्हें हिलाना आरम्भ करते हैं। अब यदि आत्मा को निराकार, कल्पनामय और शून्य मानते हैं, तो, कहिए, इस साकार जड़ात्मक मन भर के भार का उठाना कैसे सम्भव है ? यदि कहिए हस्त द्वारा; तो हस्तद्वय को किसने उठाया ? यदि कहिए मस्तिष्क में स्थित ज्ञानतन्तुओं के प्रवाह ने; तो फिर वही प्रश्न उद्भूत होता है कि उस प्रवाह को किसने प्रवाहित किया ? अतएव जब तक आत्मा को तत्व न मानोगे और समस्त शारीरिक व्यापारों का कर्त्ता उसे न स्थिर करोगे तब तक इस प्रकार की आपत्तियों से छुटकारा नहीं मिल सकता ।

९-आत्मा के अतिरिक्त मनुष्य तीन भागों में विभक्त हैः-शरीर, इन्द्रिय और मन। अब हमको इस

की परीक्षा करनी है, कि इन तीनों में से किसीमें आत्मा की अति व्याप्ति तो नहीं होती; अर्थात् आत्मा का लक्षण जो ज्ञानात्मकता है वह इनमें पाई जाती है अथवा नहीं।

१०—प्रथम शरीर की परीक्षा करेंगे। गैातम मुनि ने अपने न्यायदर्शन में शरीर का यह लक्षण लिखा है—

चेष्टेन्द्रियार्थाश्रयः शरीरम्।

अध्याय १, सूत्र ११।

अर्थात् चेष्टा, इन्द्रिय ग्रैार अर्थ इनके आश्रय को शरीर कहते हैं। चेष्टा से चलन वलन आदि सारे कार्यकलाप; इन्द्रिय से पंच ज्ञानेन्द्रिय; अर्थ से ज्ञानेन्द्रियद्वारा पदार्थों के संयोग वियोग का ज्ञान ग्रैार तज्जनित सुख दुःखादि समझने चाहिए। जैसे मृत्तिका से घर बनता है, वैसे ही पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, इन पांच तत्वों के मेल से शरीर बनता है। यह नियम * है कि जो जिस वस्तु से बनता है उसका गुण उसमें न्यूनाधिक भाव में अवश्य रहता है। यदि शरीर को सचेतन ग्रैार सज्ञान मानते हैं तो इन पांच पदार्थों को भी तद्वत् मानना पड़ता है, क्योंकि यह नहीं हो सकता कि कार्य में जो वस्तु देख पड़े वह कारण में न पाई जावै। परन्तु पृथ्वी, जल, तेज, वायु ग्रैार आकाश को कभी किसीने सचेतन ग्रैार सज्ञान देखा है? कभी नहीं। अतएव चेतनत्व ग्रैार ज्ञानात्मकत्व शरीर का नहीं है, किन्तु अन्य किसी वस्तु का धर्म है ग्रैार जिसका वह धर्म है उसीको आत्मा कहते हैं। यदि शरीर का धर्म होता तो जब तक उसका लोप न हो जाता तब तक तद्धर्म्म का भी लोप न होना चाहिए था; क्योंकि धर्म्मी ग्रैार धर्म्म का यही स्वभाव है; परन्तु मरणान्तर शरीर पूर्ववत् बना रहते भी ज्ञान का अभाव हो जाता है, इसलिए यह सिद्ध हुआ कि पञ्चभूतात्मक शरीर ज्ञानवान् नहीं; अतः आत्मा का उससे पृथक् होना प्रमाणित है।

११—शरीर के अनन्तर इन्द्रियों का विचार करना है। "घ्राणरसनचक्षुस्त्वक्श्रोत्राणीन्द्रियाणि भूतेभ्यः" इस न्याय सूत्र के प्रथमाध्यायोक्त १२वें सूत्रानुसार ज्ञानेन्द्रियाँ पांच हैं—नासिका, रसना, नेत्र, त्वचा ग्रैार श्रोत्र, ये ज्ञानेन्द्रियां "पृथिव्यापस्तेजोवायुराकाशमिति भूतानि" इस तेरहवें सूत्रानुसार पृथिवी, जल, तेज, वायु ग्रैार आकाश इन पञ्चभूतों से उत्पन्न हुई हैं। घ्राण लेना, आस्वादन करना, देखना, स्पर्श करना ग्रैार सुनना यह इन पंचेन्द्रियों के यथाक्रम पांच विषय हैं। इन्द्रियों से हमारा अभिप्राय शरीर के नेत्रादि अवयवों से नहीं; किन्तु उन अवयवों में देखने, सुनने, स्पर्श करने, सूंघने ग्रैार आस्वादन करने की शक्ति जिनमें है, ऐसी आन्तरिक अदृश्य इन्द्रियों से है। ये इन्द्रियां आत्मा को इस पांच प्रकार के ज्ञान का साक्षात्कार करा देने की साधक हैं; परन्तु देह के उन उन अवयवों से पृथक् हैं। यह सुन कर आश्चर्य्य न करना चाहिए, क्योंकि कभी कभी यह देखा गया है, कि कान का आकार नष्ट होजाने पर भी श्रवण-शक्ति में व्यत्यय नहीं आता; ग्रैार नेत्र के आकार में विशेष परिवर्तन न होने पर भी आलोक शक्ति जाती रहती है। रातको बहुतेरे मनुष्यों को कुछ भी नहीं देख पड़ता, यह ज्ञानेन्द्रियों के पृथक् होने का एक उत्कृष्ट उदाहरण है। यही दशा अपरेन्द्रियों की भी समझना चाहिए। फिर, सुषुप्ति में, जब शरीर के समग्र अवयव निश्चेष्ट होजाते हैं, उस समय भी मनुष्य स्वप्नावस्था को प्राप्त होकर नाना प्रकार के दृश्य देखता है; नाना प्रकार के सुगंधित पुष्पों का सुवास लेता है; नाना प्रकार के मनोहर वाक्य सुनता है; ग्रैार नाना प्रकार के मधुर, कटु, तिक्त आदि रसों का आस्वादन भी करता है। यदि ये इन्द्रियां दृग्गोचर अवयवों से भिन्न न होतीं तो सुषुप्ति में

* कारणगुणपूर्वकः कार्यगुणो दृष्टः—वैशेषिक सूत्र अ०२, आह्निक१, सूत्र २४: अर्थात् कारण में जो गुण होता है वही कार्य में भी देखा जाता है।

नेत्र से कुछ न देख पड़ता, कर्ण से कुछ न सुन पड़ता, और हस्त द्वारा स्पर्श करने से कुछ भी ज्ञान न होता। इन इन्द्रियों में ज्ञानात्मकता नहीं है। ज्ञानात्मकता आत्मा ही में है। आत्मा इनके द्वारा बहिर्विषयों का ज्ञान मात्र प्राप्त करता है; परन्तु स्वयं इन्द्रियों में किसी प्रकार का ज्ञान नहीं रहता। विद्युद्यन्त्र की बैटरी और तार में जो सम्बन्ध है, वही आत्मा और इन्द्रियों में भी है। जैसे विद्युच्छक्ति तार में नहीं, किन्तु बैटरी में गुप्त रीति से विद्यमान् रहती है और तार द्वारा प्रवाहित होकर, अपेक्षित स्थान को जाकर पुनरपि उसी बैटरी में प्रविष्ट होजाती है, वैसे ही ज्ञान आत्मा में विद्यमान् रहता है और इन्द्रियों के द्वारा भौतिक पदार्थों से संयोग करके पूर्ववत् आत्मा में लीन होजाता है। इन्द्रियों को चेतन और सज्ञान नहीं मान सकते; क्योंकि लोक में अनुभव करते हैं, कि रूप का देखनेवाला रस और गन्ध का अनुमान कर-सकता है; ऐसे ही रस का जानने वाला रूप और गन्ध का अनुमान करसकता है। किसी खट्टे पदार्थ को देखते ही मुख से पानी टपकने लगता है; अतः यदि सब इन्द्रियों का परिचालक एक न होता तो यह व्यापार कदापि सम्भव न था; क्योंकि नेत्र से देखे गए पदार्थ का ज्ञान रसना को होना नैसर्गिक नियमों के विरुद्ध है। जो जिसे देखेगा अथवा सुनैगा उसका प्रत्यभिज्ञान उसीको होगा; अन्य को नहीं। जिस फल को हमने प्रथम देखा और आस्वादन किया है उसको द्वितीय वार देखते ही आस्वादन किए बिना उसके पूर्व रस का स्मरण हो आना स्मृति का स्वभाव है। यह स्मृति आत्मा का धर्म्म है, जिससे सिद्ध होता है कि इन्द्रियां स्वतन्त्र ज्ञानवान् नहीं हैं; किन्तु आत्मा को जागतिक पदार्थों का ज्ञान प्राप्त कराने की साधन मात्र हैं। एक इन्द्रिय द्वारा किसी वस्तु का ज्ञान यदि एक वार भी होजाता है तो कालान्तर में उस वस्तु का संयोग अन्येन्द्रिय द्वारा होने से भी प्रथम ज्ञान का तत्काल स्मरण आत्मा को होता है; इसी-से यह व्यक्त है कि, इन समग्र इन्द्रियों का परिचालक आत्मा है। जो पदार्थ हमने नेत्र द्वारा देखा था उसे हाथ से स्पर्श करते हैं और जिसे स्पर्शेन्द्रिय द्वारा स्पर्श किया था उसे नेत्र से देखते हैं। इस प्रकार का ज्ञान एक विषयक और एक कर्तृक है; न तो इसका कर्त्ता देह है और न इन्द्रिय; अतएव नेत्र और त्वगिन्द्रिय से एकही विषय का जो अनुभव करनेवाला है वह देह और इन्द्रिय से भिन्न आत्मा है। इन्द्रियों से आत्मा के भिन्न होने का सबसे बड़ा प्रमाण एक यह है कि, इन्द्रियों के नष्ट हो जाने से तद्द्वारा प्राप्त किया गया पूर्वज्ञान नष्ट नहीं होता। अन्धे होजाने अथवा नेत्रों को समूल निकाल लेने से भी रूप रंग आदि का किया हुआ पूर्वज्ञान यथावत् बना रहता है; जिसका फलितार्थ यह निकलता है कि, इन्द्रियां ज्ञान की केवल साधक हैं; ज्ञाता कोई अन्य ही है।

१२-इन्द्रियों की परीक्षा के अनन्तर अब मन के परिक्षण की बारी है। गौतम मुनि ने अपने न्याय सूत्रों में लिखा है—

युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिर्मनसो लिङ्गम्।

अध्याय १, सूत्र १६।

अर्थात् अनेक ज्ञानों की एक साथही उत्पत्ति न होने से जान पड़ता है, कि ज्ञानेन्द्रियों के अतिरिक्त ज्ञानसाधन का और भी कोई कारण है। घ्राण आदि इन्द्रियों का गन्धादि अपने अपने विषयों के साथ सम्बन्ध रहते भी एक समयावच्छेद करके उन उन विषयों का ज्ञान आत्मा को नहीं होता; क्योंकि इन्द्रियों का सम्बन्धीय एक दूसरा सहकारी कारण है, जिसका संयोग होने से ज्ञान होता है और जिसका संयोग न होने से ज्ञान नहीं होता है। इस सहकारी कारण ही को मन कहते हैं। मन के संयोग की अपेक्षा न करके केवल इन्द्रिय और विषय के संयोग ही को ज्ञान का कारण मानें तो एक साथ अनेक ज्ञान होने चाहियं; परन्तु यह अनुभव के विरुद्ध है; क्योंकि एक ही साथ चाहे नेत्र

से देखते, कान से सुनते और त्वचा से स्पर्श करते रहें; परन्तु इन तीनों क्रियाओं को करते समय जिस इन्द्रिय के साथ मन का संयोग होगा उसी इन्द्रियजन्य ज्ञान का आत्मा को अनुभव होगा। जिस समय नेत्र द्वारा अपने किसी प्रियजन की प्रतिकृति को अवलोकन करने में कोई तल्लीन होजाता है, उस समय सिर के ऊपर यदि कर्णभेदक दुंदुभी भी बजाकरें तो सुनाई नहीं पड़ता। इसका यही कारण है, कि मन नेत्रेन्द्रिय युक्त होजाने से कर्णेन्द्रिय के कार्यों का उसे कोई समाचार नहीं मिलता और इसीलिये आत्मा को कर्ण से सन्निकृष्ट विषयों का ज्ञान भी नहीं होता। आत्मा और इन्द्रियों के मध्य में मन तार का सा कार्य्य करता है। आत्मा उसे जिस इन्द्रिय से संयुक्त कर देता है उसीके कृतविषयों का उसको साक्षात्कार होता है; और जिससे वह उसे संयुक्त नहीं करता, वह चाहै विषयों से कितना ही सन्निकर्ष करै, तथापि आत्मा को तज्जनित ज्ञान नहीं होता। मन के होने का एक और प्रमाण यह है कि, स्मृति आदि विषय, जिनका किसी इन्द्रिय से संयोग नहीं, वे केवल मन के द्वारा जाने जाते हैं। यदि मन न होता तो पूर्वकृत कार्यों का स्मरण किस प्रकार होता? मन अन्तरिन्द्रिय है; आत्मा उसके द्वारा विषयों का मनन करता है। यह कार्य अन्येन्द्रियों द्वारा नहीं होसकता। सुख, दुःख, स्मरणादि का ज्ञान केवल मन से होता है; अतएव उसे एक पृथक् इन्द्रिय मानना ही पड़ता है। जब मन का इन्द्रिय होना सिद्ध होगया, तब उसे सचेतन और सज्ञान कदापि नहीं कह सकते; क्योंकि, इन्द्रियों का चालक कोई अन्यही होना चाहिए; इन्द्रियां स्वयमेव बिना किसी प्रेरक के किसी कार्य में प्रवृत्त नहीं हो सकतीं। यदि मन में ज्ञानात्मकता होती तो अनेक विषयों का ज्ञान उसे एक बार ही होजाता; परन्तु यह अनुभव के सर्वथैव विरुद्ध है; तस्मात् शरीर, इन्द्रिय और मन के अतिरिक्त समस्त विषयों के ज्ञाता आत्मा का अस्तित्व सिद्ध है।

१३—आत्मा का होना तो सिद्ध हुआ परन्तु उसके न देख पड़ने से उसके अस्तित्व में यदि शंका की जावै तो एतादृशी शुष्क शंका का समाधान सहज ही में हो सकता है। गौतम मुनि अपने न्याय सूत्रों में लिखते हैं—

इच्छाद्वेषप्रयत्नसुखदुःखादिज्ञानान्यात्मनो लिङ्गम्।

अध्याय १, सूत्र १०।

अर्थात् इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख दुःखादि का ज्ञान आत्मा का लिङ्ग अर्थात् चिन्ह है। अभिलषित वस्तु के देखने से आनन्द होता है, जिससे जान पड़ता है कि आनन्द का अनुभव करनेवाला शरीर में कोई अवश्य है। इसी भांति द्वेष, प्रयत्नादि के विषय में भी जानना चाहिए; परन्तु यदि यह कोई अच्छा समाधान न समझा जावे, तो हमारा यह प्रश्न है कि इस विस्तृत विश्व में समस्त वस्तुओं का ज्ञान क्या नेत्रेन्द्रिय से होना सम्भव है। ऐसे थोड़े ही पदार्थ हैं जिन्हें नेत्र से देख सकते हैं। अनुमान से जिनका ज्ञान होता है, ऐसेही अधिक हैं। यह देखने में आता है कि जितने अद्‌भुत अद्‌भुत विज्ञान हैं उनके कारण सदैव गुप्त रहते हैं, नेत्र से नहीं देखे जासकते; परन्तु ऐसा होने से क्या कोई उनके अस्तित्व में शंका करता है? पृथ्वी की आकर्षणशक्ति को लीजिए। वालुका की छोटी से छोटी कणा को लेकर सूर्यमण्डल तक सारे पदार्थ इस आकर्षण नियम से नियमित हैं। इसीके कारण ग्रह, नक्षत्र और राशियां अपनी अपनी कक्षाओं में भ्रमण करती हैं; इसीके कारण ग्रहण पड़ता है; और इसीके कारण ऋतुओं में भी परिवर्तन होता है। किंबहुना अल्प से अल्प भी पदार्थ इस शक्ति के नियमों से वहिर्भूत नहीं हैं; परन्तु हम पूछते हैं कि, इस अद्‌भुत और जगद्व्यापिनी शक्ति को क्या किसी ने देखा है? किसी ने नहीं। फिर जब इसका अस्तित्व स्वीकार है तो हमारे आत्मा ने क्या अपराध किया? न्यूटन * महाराज के ऊपर

* पृथ्वी की आकर्षण शक्ति को आर्यभट्ट, वराहमिहिर आदि हमारे पूर्वाचार्य पहले ही से जानते थे।

तो इतना विश्वास, कि उनका वचन वज्रलेख समझ लिया गया; और हमारे ऋषियों के ऊपर इतना अविश्वास, कि नाना प्रकार से आत्मा की सिद्धि करके समझाने पर भी शंका !

दूसरा उदाहरण विद्युत् का लीजिए। जितने जागतिक पदार्थ हैं सबमें यह न्यूनाधिक भावसे व्याप्त रहती है और घर्षण तथा अन्य रसायनिक प्रयोग द्वारा प्रबुद्ध किए जाने पर वह अपना भीषण प्रभाव प्रकट करती है। जिस समय तारयन्त्र पर नियमित रीति के अनुसार आघात किया जाता है तत्क्षणात् विद्युत् की अदृश्य धारा शतशः और सहस्रशः मील तक फैले हुए तार से होती हुई इच्छित स्थान पर पहुंच जाती है; और वहां पर पहुंच कर, यन्त्र में सुइयों को दाहिनी बाईं ओर वेग से हिलाती है; चुम्बक में प्रवेश करके कर्णभेदक शब्द करती है; घण्टी बजाती है और नाना प्रकार के वाक्य पेन्सिल अथवा स्याही से काग़ज़ के ऊपर लिख तक देती है। इतनी आश्चर्य कारक घटानाएं तो अवश्य देख पड़ती हैं; परन्तु घटनाओं का कारण विद्युद्देवी फिर भी दृष्टि गोचर नहीं होती। तो क्या इससे विद्युत् के अस्तित्व में शङ्का की जा सकती है ? कदापि नहीं। तड़िद्यन्त्र की वार्ता तो कुछ सूक्ष्म भी है; अब तो रेल भी तड़ित् द्वारा चलाई जाने लगी है, और घर घर में नेत्र प्रतिघातकारी दीपक भी तड़ित् ही के जलने लगे हैं। इन सब उदाहरणों से व्यक्त होता है, कि अनेक पदार्थों का आदि कारण अदृश्य रहता है। उसका अस्तित्व उसके अद्भुत अद्भुत कार्यों ही से अनुमान किया जाता है। यही दशा आत्मा की भी है। अति सूक्ष्म होने के कारण वह यद्यपि दृष्टि से नहीं देखा जा सकता; तथापि इन्द्रियों के व्यापारादि और सुख दुःखादि के अनुभव से उसका अस्तित्व भली भांति प्रमाणित होता है।

१४–इस प्रस्ताव के आदि में आत्मा का जो लक्षण लिखा गया है उसके अनुसार आत्मा नित्य है, अर्थात् जनन के प्राक् भी वह था और मरण के अनन्तर भी वह रहेगा। इससे यह ध्वनितार्थ निकलता है कि आत्मा अविनाशी है। अतएव आत्मा का अस्तित्व प्रतिपादन कर के अब उसके नित्यत्व के विषय में भी कुछ कहना आवश्यक है।

१५–संसार में जो कुछ परस्पर विरोधी है, उसकी उत्पति सदैव अपने विरोधी से होती है। यह सर्वव्यापक सिद्धान्त है। विरोधी वस्तुओं अथवा गुणों से हमारा अभिप्राय पाप पुण्य, मलिन उज्वल, उच्च नीच, कटु मिष्टादिवत् जितने युग्म हैं, उनसे है। उदाहरणार्थ जब हम कहते हैं, कि अमुक पदार्थ अधिक होगया तब यह सूचित होता है कि वह पहले न्यून था और पश्चात् न्यून से अधिक हुआ। अधिक और न्यून परस्पर विरोधी हैं। अतः जैसे न्यून में कुछ मिला देने से वह अधिक होजाता है वैसेही अधिक से कुछ खींच लेने से वह न्यून होजाता है। इसी भांति अशक्त बलवान् से और बलवान् अशक्त से, उच्च नीच से और नीच उच्च से, तथाच वेगगामी मन्दगामी से और मन्द-गामी वेगगामी से उत्पन्न होता है। जितने परस्पर विरोधी युग्म हैं उनके अङ्गद्वय के मध्य दो प्रकार की उत्पादकशक्तियां स्थित रहती हैं जो पहिले से दूसरे और दूसरे से पुनः पहिले में पाई जाती हैं। दीर्घ और ह्रस्व के मध्य वृद्धि और ह्रास स्थित हैं; इसीलिये हम कहते हैं, कि एक वृद्धि को और दूसरा ह्रास को प्राप्त होता है। इन उदाहरणों से प्रमाणित है, कि विरोधी अपने ही विरोधी से उत्पन्न होता है, और दो विरोधियों के मध्य परस्पर उत्पादकता का सदैव सम्बन्ध रहता है। सिद्धान्तानुसार जैसे सुषुप्ति का विरोधी जागरण है वैसेही जीवन का विरोधी मरण है। सुषुप्ति और जागरण इन दोनों में दो प्रकार की उत्पादक शक्तियां हैं, अर्थात् सुषुप्ति से जागरण की और जागरण से सुषुप्ति की उत्पत्ति होती है; यह नहीं कि कोई मनुष्य सुषुप्ति अवस्था को प्राप्त होकर जाग्रत न होवै, और जाग्रत होकर फिर कभी निद्रित न होवै। इसी प्रणाली द्वारा जीवन और मरण में स्पष्ट विरोध होने के कारण यह कहने में

कोई आपत्ति नहीं, कि मरण से जीवन और जीवन से पुनरपि मरण की उत्पत्ति होती है; अर्थात् जो कुछ जीवित है सब मृत से उत्पन्न हुआ है और जो कुछ मृत हो चुका सब जीवित ही से मृत्यु को पहुंचा है। आत्मा की स्थिति ही जीवन और आत्मा का शरीर त्यागही मृत्यु है; अतः उपरोक्त उदाहरण के अनुसार उसका नित्यत्व सिद्ध है। यह नहीं हो सकता कि, और सारे विरोधी युग्मों की तो परस्पर एक दूसरे से उत्पत्ति हो; परन्तु मृत और जीवित की न हो। नैसर्गिक नियम सदृश व्यापक होते हैं, उनमें अपवादकता सम्भव नहीं। जीवन और मरण जिनसे आत्मा ही का प्रादुर्भाव और लोप समझा जाता है, वे परस्पर एक दूसरे से उत्पन्न होते हैं। जब यह सिद्ध होगया तब आत्मा की अविनाशकता पृथक् सिद्ध करने की कोई आवश्यकता नहीं देख पड़ती। यदि आत्मा को श्वासोच्छ्वासवत् तरल और विनाशवान् पदार्थ मानते हैं और यह शङ्का करते हैं कि एक बार मृत्यु को प्राप्त होने से उसका अत्यन्ताभाव हो जाता है तो यह भी साथ ही मानना पड़ता है कि जो कुछ इस जगत् में है किसी समय सभी मृत्यु को प्राप्त हो जावैगा; जीवित का नाम भी शेष न रहैगा; क्योंकि, यदि मृत देहस्थ आत्मा का पुनर्जन्म न मान कर प्रति वार प्रति आत्मा की किसी अन्य पदार्थ से उत्पत्ति स्थिर करते हैं, तो वह सब अन्य पदार्थ अवश्यमेव कालान्तर में नष्ट होकर इस विस्तृत विश्व को शून्यमय कर देवैंगे। किं बहुना, स्वयं यह विश्व ही यदि आत्मा में परिणत होकर एक दिन विनष्ट हो जाय तो कुछ आश्चर्य नहीं। परन्तु यह नितान्त निर्मूलक कल्पना है। ईश्वरीय नियमों में त्रुटि नहीं होती; अतः आत्मा को नित्य अर्थात् अविनाशी मानना ही चाहिए।

१६–ग्रीस देश में साक्रेटिस नाम का एक महान् तत्ववेत्ता हो गया है। आत्मा के नित्यत्व-विषय में जो प्रमाण हमने ऊपर दिया वह उसीके सिद्धान्तों के अनुसार है। हमारे देशवासी दर्शनशास्त्र के आचार्यों ने भी आत्मा का नित्यत्व अनेक प्रकार से सिद्ध किया है। उनके कहने का संक्षिप्त सारांश यह है, कि उत्पन्न हुए बालक को इस जन्म के पश्चात हर्ष, भय और शोक के कारणों से हर्ष, भय और शोक होते देख पड़ता है। ये विकार स्मरण की परम्परा से होते हैं; अन्यथा नहीं। स्मरण की परम्परा प्रथमाभ्यास के बिना नहीं हो सकती; और प्रथमाभ्यास पूर्व जन्म के बिना नहीं हो सकता; जिससे यह सिद्ध है, कि शरीर के विनाश होने पर भी आत्मा रहता है और पुनर्वार जन्म लेता है। यदि ऐसा न मानोगे तो अत्यल्प बालकों को होने वाले हर्षादि विकारों का और क्या कारण कहोगे? जैसे पञ्चभूतात्मक पद्मादि पुष्पों का प्रफुल्लित और मुकुलित होना आदि विकार उष्ण, शीत और वर्षा कालादि कारणों से होते हैं, वैसे ही बालक में व्याप्त आत्मा को हर्ष शोकादि विकारों का कारण प्रथम जन्म में अभ्यास के स्मरण की परम्परा ही है; दूसरा निमित्त नहीं हो सकता। इसी प्रकार सद्योजात बालक अथवा बछड़े को उत्पन्न होते ही दूध पीने के लिये व्यग्र देखकर प्रथम जन्माभ्यस्त भोजन में प्रवृत्ति प्रकट होती है, क्योंकि यह सदैव अनुभव किया जाता है, कि आहार के अभ्यास से उत्पन्न स्मृति के योग से बुभुक्षित प्राणियों को भोजन की इच्छा होती है; और पूर्व शरीर के बिना यह इच्छा तत्काल उत्पन्न हुए जीव को नहीं हो सकती। इससे अनुमान होता है, कि यह जीव पहिले किसी शरीर में स्थित था और उस शरीर में इसने भोजन का अभ्यास किया था। अब यह प्रथम शरीर को परित्याग करके दूसरे शरीर में आया है और बुभुक्षा से क्लेशित होकर पूर्वाभ्यस्त आहार के स्मरण से दुग्धपान की इच्छा करता है; अतः यह प्रमाणसिद्ध है कि देह के ध्वंस होजाने से आत्मा का ध्वंस नहीं होता।

आत्मा के नित्यत्व का एक और भी प्रमाण यह है कि वेदान्त, सांख्यादि शास्त्रोक्त आप्तवचनानुसार वीतराग पुरुष का जन्म नहीं होता। केवल सराग अर्थात् ऐसे जीव जिन्हें सांसारिक विषयों

ने बद्ध कर रक्खा है वही पुनर्जन्म ग्रहण करते हैं। पूर्व जन्म में अनुभव किए गए विषयों की चिन्ता ही राग का मूल कारण है और विषयों की चिन्तना, पूर्वजन्म में, बिना शरीर के हो नहीं सकती; अतएव यह स्पष्ट है कि आत्मा प्रथम शरीर में भोगे हुए विषयों का स्मरण करता हुआ उनमें आसक्त होता है। इसी भांति प्रथम शरीर का उसके पहले शरीर के साथ और वैसे ही उसका उसके पहले शरीर के साथ सम्बन्ध जान लेना चाहिए। जीव का शरीर के साथ अनादि सम्बन्ध होने और राग की परम्परा भी अनादि होने से इस प्रकार भी आत्मा का नित्यत्व सिद्ध है।

उपरोक्त आशय, हमने, गैतम-न्यायसूत्रों के भाष्य से उद्धृत किया है। सूत्र ये हैं—

> पूर्वाभ्यस्तस्मृत्यनुबन्धात् जातस्य हर्षभयशोकसम्प्रतिपत्तेः
> पद्मादिषु प्रबोधसम्मीलनविकारवत्तद्विकारः।
> नोष्णशीतवर्षाकालनिमित्तत्वात् पञ्चात्मकविकाराणाम्।
> प्रेत्याहाराभ्यासकृतात् स्तन्याभिलाषात्।
> वीतरागजन्मादर्शनात्।
>
> अध्याय ३ सूत्र १९, २०, २१, २२, २५।

१७—आत्मा के लक्षण में यह कहा गया है कि वह व्यापक है। अतएव उसके व्यापकत्व की भी संक्षिप्त समालोचना करके इस प्रस्ताव को हम पूर्ण करते हैं। संसार में जितने पदार्थ हैं सूक्ष्मतया विचार करने से उन सबका तत्व एक ही जान पड़ता है। जितने घट देखने में आते हैं, चाहे छोटे चाहे बड़े, सबका मूल तत्व मृत्तिका है। उसी प्रकार सुवर्ण के जितने आभूषण हैं, चाहे वे आकार में कैसे ही हों और चाहे वे कितने ही नामों से अभिहित किए जाते हों, मूल तत्व उनका सुवर्ण है। इससे स्पष्ट है कि भिन्न भिन्न आकार और संज्ञा को प्राप्त होने से पदार्थों के आदि तत्व में भिन्नत्व नहीं आता। सुवर्ण वस्तु नेत्र से देखते हैं और उसके आकार को जब चाहें बिगाड़ सकते हैं। लम्बे को चौड़ा और चौड़े को लम्बा बनाने में कोई कठिनता नहीं पड़ती। यहां तक कि उसे गलाकर जलवत् तरल और भाफ भी कर डालते हैं; परन्तु तिसपर भी उसका अत्यन्ताभाव नहीं होता; जिससे यह विदित होता है, कि सुवर्ण का मूल तत्व गुप्त है। वह एक ऐसा तत्व है कि किसी प्रकार उसका नाश नहीं होता, सुवर्ण को चाहे तुम जिस रूप रङ्ग का कर डालो, उसके विद्यमान रहने से सुवर्ण का अभाव नहीं होने पाता। यह आदितत्व आत्मा ही है। जैसे प्राणियों में आत्मा के स्थित रहने ही से शरीर की वृद्धि, ह्रास और अनेक प्रकार के परिवर्तन होते हैं वैसे ही भौतिक पदार्थों के विषय में भी समझना चाहिए। यदि उनमें आत्मातत्व न रहता तो उनकी स्थिति किसी प्रकार सम्भव न थी। जिस तत्व के कारण सुवर्ण सदृश जड़ात्मक पदार्थों के भी रूप रङ्गादि का ज्ञान लोगों को होता है, वह अवश्यमेव ज्ञानवान् होगा; क्योंकि जो स्वयं ज्ञान नहीं रखता वह औरों को ज्ञान का कारण कैसे हो सकेगा? ज्ञानात्मकता ही आत्मा का लक्षण है; जिसे, विचार पूर्वक देखने से, वालुका की कणा से लेकर प्रकाण्ड सूर्यमण्डल तक सभी पदार्थों में पाते हैं; अतएव आत्मा को व्यापक कहना प्रमाण-सङ्गत अंगीकार करना चाहिए।

१८—सुवर्णादि पदार्थों में भी जब उसका सत्व रूप होकर आत्मा व्याप्त है तब मनुष्य में उसके व्यापकत्व का विश्वास न करना महामूर्खता है। प्राणिमात्र में व्याप्त आत्मा के अस्तित्व का निरूपण ऊपर हो चुका है; तथापि यहां भी प्रसंगानुसार हम पुनर्वार इतना अवश्य कहना चाहते हैं, कि प्रति शरीर में देह, देहावयव और इन्द्रियादि से भिन्न, चेतन स्वरूप, विज्ञानमय, आत्मा का निवास है; और वह अपने अस्तित्व को "हम" इस शब्द से सूचित करता है। "हमारी देह", "हमारा हाथ", "हमारी पैर", "हमारा मुख" और "हमारा मन" इत्यादि वाक्यों से प्रमाणित

होता है कि देह, हाथ, पैर, मुख और मन को अपना कहने वाला उनसे भिन्न और कोई है; क्योंकि यह बात व्यवहार सिद्ध है कि जिसके ऊपर जिसका स्वत्व रहता है वह सदैव उससे पृथक् होता है; यह नहीं, कि यदि हम कहें कि "हमारी लेखनी", तो लेखनी से हमारा ही ज्ञान हो; नहीं, लेखनी से भिन्न उसके स्वामी "हम" पृथक् ही हैं। फिर, जब मनुष्य शयन करता है तब आत्मा और इन्द्रियों का कोई सम्बन्ध नहीं रहता। सुषुप्ति अवस्था में शरीर व्यापारशून्य हो जाता है और अहम्भाव का ज्ञान भी जाता रहता है; तथापि "हम" जिसे संस्कृत में "अहम्" कहते हैं, वह फिर भी जागृत रहता है और मनुष्यों के जगने पर उस "हम" का शरीर के साथ संयोग होते ही तुरन्त यह स्मरण हो आता है कि "आज हम सुख से सोए"। यदि यह "हम" शरीरादि से पृथक् व्यापक और ज्ञानमय न होता तो एतादृश स्मरण भी कभी न होता; क्योंकि यह सम्भव नहीं कि कार्य का कर्त्ता एक हो और क्रिया-जन्य स्मरण दूसरे को हो। निद्रितावस्था में भी वह 'हम" पूर्ववत् प्रबुद्ध रहता है। यह "हम" ही आत्मा है। ज्योतिःस्वरूप होने के कारण यह आत्मा सोते, जागते, सदैव, अशेष कार्य कलाप का साक्षी समझा जाता है। प्रति शरीर में व्याप्त आत्मा उस अद्वितीय और सर्वज्ञ परमात्मा ही का अंश है। अविद्या से बद्ध होने के कारण आत्मा को कर्म्मजन्य फल भोग करना पड़ता है; परन्तु परमात्मा को नहीं; यही उसमें और परमात्मा में अन्तर है। स्वभावतः आत्मा, परमात्मा के समान निर्विकार, चैतन्य और ज्ञानमय है। शङ्कराचार्य जी भी यही कहते हैं—

प्रकृतिविकृतिभिन्नः शुद्धबोधस्वभावः
सदसदिति विशेषं भासयन्निर्विशेषः।
विलसति परमात्मा जागृदादिष्ववस्था-
स्वहमहमिति साक्षात् साक्षिरूपेण बुद्धेः॥

विवेकचूड़ामणि।

अर्थात् प्रकृति के विकार से भिन्न, शुद्ध-बोध-स्वभाव, निर्विशेष, परमात्मा सत् और असत् के भेद को बताता हुआ तथैव जागृदादि अवस्था में "अहं" "अहं" इस प्रकार बुद्धि का साक्षात् साक्षिरूप होता हुआ घट घट में विद्यमान है।

रत्नावली

[महाकवि श्रीहर्ष रचित नाटिका की आख्यायिका]

(१)

कौशाम्बी नगरी में आज मदनोत्सव की धूम धाम मची हुई है। बसन्त ऋतु के आने से नगर-निवासी जन बड़े उमङ्ग के संग कामदेव की पूजा की तैयारी कर रहे हैं। ऐसे समय में कौशाम्बी के अधिपति महाराज उदयन (वत्सराज) भी अपने मित्र बसन्तक के साथ राज-प्रासाद की सबसे ऊँची छत पर बैठे हुए नगर निवासियों के उत्साह और कुतूहल को देख रहे हैं। बीच बीच में हँसौड़ बसन्तक भी अपनी बेतुकी बातों से महाराज को हँसाता और आप भी हँसता जाता है। उसी समय अन्तःपुर से महारानी वासवदत्ता की भेजी हुई मदनिका और चूतकलिका नाम की दो परिचारिकाओं ने आ, हाथ जोड़ और सिर झुका कर निवेदन किया कि, "महाराज! श्रीमहारानी जी ने हम दोनों को श्रीमहाराज के पास भेजा है और आज्ञा की है–(रुक कर और लज्जा से आंखें नीची करके) और प्रार्थना की है कि 'आज हम मकरन्दोद्यान में रक्त अशोक के नीचे भगवान कामदेव की पूजा करेंगी, सो महाराज भी वहां अवश्य पधारें'।

बसन्तक–"क्योंरी ढीठ! महारानी ने महाराज को आज्ञा की है!"

महाराज–"हां हां! इस मदनमहोत्सव में प्रार्थना करने के बदले महारानी का आज्ञा करना ही अधिक शोभा पाता है। (दासियों से। महारानी से कह देना कि हम अभी मकरन्दोद्यान और इस बसन्तोत्सव के योग्य वेश बना कर वहां आते हैं।"

इतना सुन, दोनों परिचारिकाएं सिर झुका कर चली गईं और महाराज भी बसन्तक का हाथ पकड़े हुए गहने कपड़े पहिरने के लिये अपने रत्नागार की ओर चले।

(२)

इधर महारानी बासवदत्ता मकरन्द उद्यान में जाकर, लाल अशोक के नीचे कामदेव की मूर्त्ति स्थापन करके पूजा की तैयारी करने लगीं। और सागरिका, कांचनमाला तथा और भी अनेक परिचारिकाएं पूजा की सामग्री सँजोने लगीं। इतने में महारानी ने न जाने क्या सोच कर, सागरिका की ओर देखकर कहा, "प्रिय सखी, सागरिका! आज सब जनी तो मदन-महोत्सव में लगी हुई हैं और महल में सारिका का पिञ्जरा योंही पड़ा है, कहीं ऐसा न हो कि अकेला पाकर वह सारिका पिञ्जरे में से उड़ जाय। इसलिये तू जल्दी से वहीं जा और सारिका की रखवाली कर।"

इतना सुनते ही सागरिका ने अपने हाथ की पूजा की सामग्री कांचनमाला को दे दी और "बहुत अच्छा" कह कर मन में यों सोचती हुई महल की ओर बढ़ी कि, 'सारिका की रखवाली का भार तो मैं अपनी प्रिय सखी सुसंगता को दे ही आई हूं, यह बात महारानी भी जानती हैं, फिर क्यों जान बूझ कर इन्होंने मुझे यहां से खदेड़ा! अच्छा! अब मैं इन्हीं लताओं की ओट से छिपकर देखूंगी कि मेरे पिता के यहां जिस रीति से कामदेव की पूजा होती है वैसी ही यहां भी होती है या दूसरी बिधि से"। यह सोच कर सागरिका महल में न जाकर लताओं के एक झुरमुट में सब की आंख बचा कर छिप गई और वहीं से मदन-महोत्सव का आनन्द लेने लगी।

यह सागरिका कौन है, कहां से आई है, किसकी लड़की है, ये बातें कोई नहीं जानता। पर महारानी बासवदत्ता की परिचारिकाओं में से इतना तो सभी जानती हैं, कि 'कुछ दिनों से कहीं से आकर सागरिका महारानी बासवदत्ता की सहेली बनकर रहती है" यद्यपि सागरिका अपना परिचय किसीको नहीं देती और जो कोई उसके सच्चे परिचय पाने के लिये बहुत हठ करता है, तो वह एक लम्बी सांस लेकर चुप हो जाया करती या दूसरी बात छेड़कर बात उड़ा देती है; पर तोभी वह बड़ी ही सुशीला और अद्वितीय सुन्दरी है। यद्यपि वह बासवदत्ता की सखी है पर सच तो यों है कि उसके रूप रङ्ग के आगे महारानी बासवदत्ता को भी अपना सिर झुकाना पड़ता है; और वह भी सागरिका के ठीक ठीक परिचय को न जानकर भी अपने मन में यही निश्चय करती हैं कि "हो न हो सागरिका भी किसी बड़े राज घराने की लड़की होगी"। यही सब सोच समझ कर और सागरिका की अतुल रूपराशि देख कर महारानी बासवदत्ता उसे बराबर अपनी आंखों के आगे रखती हैं और इस बात की भी पूरी चौकसी रखती हैं कि किसी प्रकार से भी यह महाराज की आंखों तले न पड़ने पावे। बस, इन बातों से यही निश्चय होता है कि आज भी महारानी ने सागरिका को इसीलिये मकरन्द उद्यान से टाल दिया है कि जिसमें महाराज इसे न देखलें।

(३)

इधर तो महारानी बासवदत्ता ने रक्त अशोक के नीचे कामदेव की मूर्त्ति स्थापित की, और उधर अपने सखा बसन्तक को साथ लिए महाराज उदयन भी मकरन्द उद्यान में पधारे। महाराज को देख बासवदत्ता ने उठ कर उन्हें आसन दिया और उनके बैठने पर उनकी आज्ञा लेकर कामदेव की पूजा प्रारम्भ की। इधर लता ओट में से लाल अशोक के नीचे बिराजमान महाराज को देख कर सागरिका ऐसी मोहित हुई कि थोड़ी देर तक उसे अपनी सुधि न रही; फिर जब उसे चेत हुआ तो वह राजा को देखकर मन ही मन यों कहने लगी, "अरे, यह क्या! यह तो कोई अपूर्व कामदेव हैं! अहा! पिता के घर तो केवल इनका चित्र ही देखती थी, पर यहां तो ये (अनङ्ग) अङ्ग धारण

करके विराजमान हैं। अच्छा मैं भी यहीं से इन्हें पुष्पाञ्जलि दूं"। इतना मन ही मन सोच ग्रैार अञ्जलि में फूल भर कर वह कहने लगी, "हे भगवन्, अनङ्ग! आज आपने अङ्ग धारण करके मुझे दर्शन दे कृतार्थ किया। मैं जन्म की दुखिया हूं, इसलिये आपसे यही बिनती करती हूं कि आपका दर्शन मेरे लिये शुभदायक हो; बस, इससे अधिक ग्रैार मेरी कोई अभिलाषा नहीं है, क्योंकि जब मैंने आपके दुर्लभ दर्शन पाए तो फिर मुझे अब ग्रैार क्या चाहिए?" इतना कहकर सागरिका ने, जहां खड़ी थी वहीं से पुष्पाञ्जलि चढ़ाकर प्रणाम किया ग्रैार मन में कहा कि भला, जब तक पूजा हो रही है, तब तक तो इन्हें मन भर कर देखलूं; फिर ये दर्शन दुर्लभ हो जायंगे"। यों सोच कर वह जब तक महारानी बासवदत्ता पूजा करती रहीं, लता ग्रोट से खड़ी खड़ी देखती रही, ग्रैार जब पूजा समाप्त होने पर आई तो धीरे धीरे सबकी आंख बचा कर महल की ग्रोर चली।

सागरिका ज्यों ही चली थी कि कुछ सुन कर ठठकी। उसने सुना ग्रैार फिरकर लता ग्रोट से देखा कि महारानी बासवदत्ता महाराज को मदनमहोत्सव की बधाई दे रही हैं ग्रैार महाराज उनकी बधाई को हर्ष से ले रहे हैं। यह कैातुक देख कर सागरिका चैांकी ग्रैार मन में कहने लगी "अरे यह क्या! जिन्हें मैं अब तक अङ्गधारी अनङ्ग समझे हुई थी, वे महाराज उदयन हैं? एं! क्या इन्हींके लिये पिता ने मुझे यहां भेजा था? हाय, दुर्भाग्य ने कैसा चैाका लगाया; अस्तु, इतने पर भी, पराधीनता के ताप से कुम्हलाने पर भी मेरा हृदय इन्हें देख कर कमल सा खिल गया! फिर भी मैं बड़ी अभागिन हूं कि मनोरथ तो दूर रहा, मन भर कर महाराज को देख भी न सकी।" यह कह ग्रैार सबको जाते देख कर आप भी धीरे धीरे दबे पांव वहां से चल दी। इधर महाराज तथा महारानी भी अपने अपने मार्ग से गए। केवल रक्त अशोक के नीचे फूलों का ढेर मात्र उद्यान की शोभा बढ़ाने के लिये रह गया।

(४)

यद्यपि सागरिका को उसके सुशील स्वभाव के का[illegible]सभी चाहते थे, पर सुसंगता नाम की परिचारिका से उसका बड़ा स्नेह था ग्रैार सुसंगता भी उसे अपनी सहोदरा भगिनी की भांति चाहती थी; ग्रैार सच तो यों है कि सागरिका का इस राजभवन में यदि कोई सच्चा हितू था तो केवल सुसंगता ही थी। इन दोनों में कोई बात छिपी नहीं रहती थी ग्रैार दोनों का मन मिल कर एक हो गया था। इसीसे बराबर एक दूसरे की भलाई ग्रोर सहायता करती थीं। यही कारण है कि जब कामदेव की पूजा करके महारानी बासवदत्ता अपनी परिचारिकाग्रों के साथ मकरन्द उद्यान से लौटीं ग्रैार उनके साथ सागरिका को न देखा तो सुसंगता घबड़ाई ग्रैार मन में सोचने लगी कि 'सागरिका कहां रह गई'! किन्तु जब उसने कांचनमाला नाम की परिचारिका से सुना कि 'महारानी ने सागरिका को उद्यान में जाते ही महल में भेज दिया था' तब सुसंगता चुप चाप बिना किसीसे कुछ कहे सुने मकरन्द उद्यान की ग्रोर सागरिका को खोजने चली। मार्ग में उसकी भेंट सागरिका से हुई। तब सुसंगता ने सागरिका से पूछा कि, "तुझे तो महारानी ने उद्यान में पहुंचते ही महल में लौट आने के लिये कहा था, पर तू अब तक कहां थी? देख! वे सब पूजा करके आ भी गईं ग्रैार तू अभी तक यहीं भटक रही है? क्या मार्ग भूल गई, या भांग पी ली है? मैं तुझे न देख कर घबड़ाई हुई तुझे ढूंढ़ने को निकली। एं! आज तुझे क्या होगया जो पगली की तरह झूम रही है, बोलती भी नहीं"।

सागरिका को सुसंगता प्राण से बढ़ कर चाहती थी, इसीलिये उसने इतनी बातें सागरिका को कह सुनाईं। पर आज तो सागरिका आपे में न थी, इसलिये उसने केवल इतना ही कह कर

अपना पल्ला छुड़ाया कि "सखी! न जाने क्यों मेरा जी मिचला रहा है, सिर घूम रहा है, रह रह कर घुमटा सा आजाता है; मैं तो यहीं बेसुध पड़ी थी। अब कुछ जी सम्हला तो महले [illegible] जाती हूं। पर तू महारानी से कुछ न क[illegible]

यद्यपि आज सागरिका ने सुसंगता से बिलकुल झूठ कहा और अपने भेद को भी छिपाया, पर उसने सब सच जाना और हाथ थाम कर सागरिका को अन्तःपुर में लेजाकर पलङ्ग पर लिटा दिया।

दूसरे दिन मध्यान्ह के समय जब फिर सागरिका बिना कहे सुने कहीं खसक दी तो सुसंगता घबड़ाई और उसे खोजने चली। मार्ग में निपुणिका दासी के मुँह उसने सुना कि "सागरिका घबड़ाई हुई चित्र लिखने का डब्बा लिए हुए अभी कदली-कुञ्ज की ओर गई है"। यह सुन कर सुसंगता भी उसी ओर चली और कदली-कुञ्ज में जाकर क्या देखती है कि सागरिका एक हाथ में चित्र पट और दूसरे हाथ में वर्त्तिका लिए और आगे रङ्गों का डिब्बा खोले बैठी हुई आप ही आप लम्बी लम्बी उसाँसें लेती और बीच बीच में कुछ बकती झकती चित्र लिख रही है। उसकी ऐसी दशा देख सुसंगता उसके पीछे चुप चाप खड़ी होगई और उसके सारे कुतूहल को ध्यान देकर देखने लगी। पर सागरिका को सुसंगता के आने का तनिक भी आहट न मिली और वह उनमनी सी होकर आपही आप बकने लगी, "हायरे, अमाने मन! तनिक धीरज धर; अरे मूर्ख! जिस वस्तु का पाना दुर्लभ है, उसके लिये क्यों इतनाम चल रहा है? रे मूढ़! अब भी समझ, नहीं तो जन्म भर इस ठंढी आग में जलने और भांति भांति के कष्ट उठाने के और कुछ भी हाथ नहीं आवेगा। हाय! जिसे एक बार देखने से तू इस दशा को पहुंचा, उसीको फिर देखने के लिये ललच रहा है! अरे दुष्ट! जन्म से मेरे साथ रह कर आज तू मुझे छोड़ कर उस व्यक्ति के पास दौड़ता है जिसे तेरी कुछ भी टोह नहीं है। हाय रे निर्लज्ज! तुझे तनिक लज्जा भी नहीं आती। अरे! जो कहीं उसने भी तुझे निरादर करके दूर कर दिया, जिसके लिये तू मुझे छोड़ रहा है, तो सोच तो, मूर्ख! फिर तू किसका होकर कहां रहेगा! पर इसमें तेरा कुछ दोष नहीं है, निश्चय तू कामबाण से घायल हो मुझे छोड़ कर भागता है; तो अच्छा! मैं कामदेव ही को क्यों न कोसूं? भगवान् मन्मथ! तुम त्रैलोक्य-विजयी होकर बिचारी अबलाओं पर बाण चलाते हैं? धिक्कार है तुम्हारी इस निर्लज्जता पर! परन्तु तुम्हें लज्जा क्यों आने लगी? तुमतो अनङ्ग ठहरे; लज्जा तो उसे न होती है, कि जो अङ्गवाला हो! जब अङ्ग ही नहीं तो लज्जा कहां! अच्छा, तो लो! शिवद्रोह की ज्वाला से भस्म होकर अब निरपराधिनी अबलाओं को भस्म करो!!! हाय!" इतना कहते कहते सागरिका लम्बी लम्बी उसांसें लेने और चित्र लिखने लगी। और जब चित्र पूरा होने पर आया तब फिर आप ही आप कहने लगी, "चित्र लिखने में न जाने क्यों यद्यपि मेरा हाथ कांप रहा है तौभी मैंने एक प्रकार से अपने हृदय-बल्लभ का अपने मनमानता चित्र बनाही लिया। तो अब इसी चित्रही को मन भर कर देखूं और अपने उमड़ते हुए मनको धीरज दूं। क्योंकि अब सिवाय इसके और दूसरा उपाय ही क्या है?"

सागरिका के पीछे खड़ी हुई सुसंगता अपनी प्रिय सखी के सब कौतुक देखती और उसकी अनहोनी बातें सुन रही थी। सुसंगता ने सागरिका के लिखे हुए चित्र को देख कर मन में कहा, "प्यारी, सखी, सागरिका! तू धन्य है, और क्यों न होगी? भला! राज-हंसिनी मान-सरोवर को त्याग कर क्या गढ़ेले में कभी रह सकती है?"

सामने चित्र रक्खे हुए सागरिका फिर आपही आप कहने लगी, "हाय! इन निगोड़ी आंखों के उमड़ने के कारण चित्र बनाकर भी इसे मन भर

के नहीं देख सकती !" इतना कह कर ज्योंही उसने आंसू पोछने के लिये सिर ऊँचा किया त्योंही सुसंगता को खड़ी देख कर चिहुंक उठी और डरके मारे जल्दी से अपने आंचल के भीतर चित्र छिपाने लगी। फिर बोली, "प्यारी सखी, सुसंगता ! तू यहां कहां ? अच्छा आ, बैठ" । सुसंगता बैठते बैठते सागरिका के हाथ से बर जोरी चित्र छीन कर बोली, "प्यारी, सागरिका ! तैने यह किसका चित्र खैंचा है ?" सागरिका ने बात बना कर कहा "इस मदन-महोत्सव में केवल उसी देवता (कामदेव) का जिससे इस उत्सव से पूरा सम्बन्ध है।"

सागरिका ने हँसकर कहा, "सच है, और तेरी चतुराई पर मैं निछावर हूं । परन्तु सखी ! बिना रति के यह कामदेव का चित्र केवल सूनाही नहीं, वरन् फीका भी लगता है; इसलिये, ला, कूर्चिका मुझे दे, मैं इस (कामदेव) की जोड़ी मिला दूं"। यह कह कर सुसंगता सागरिका के हाथ से बरजोरी वर्त्तिका लेकर उस चित्र में उसी (सागरिका) की छवि लिखने लगी । सुसंगता के इस रङ्ग ढङ्ग को देखकर सागरिका ने बनावटी क्रोध से कहा, "क्योंरी, सुसंगता ! तूने इस चित्रपट पर मेरा चित्र क्यों बनाया ?"।

सुसंगता ने हँसकर कहा, "सखी ! तू व्यर्थ मुझपर कोप दिखलाती है । तूने जैसा कामदेव का चित्र लिखा, मैंने रति का भी वैसा ही चित्र खैंच दिया; इसमें चिढ़ने या नाक भौं सिकोड़ने की कौनसी बात हुई, जो तू इतनी बिगड़ उठी ?"

सुसंगता की परिहासमय बातों को सुनकर सागरिका ने मन में समझ लिया कि "मेरे मन के भाव को या प्रीति की छिपी आग को सुसंगता जान गई, तो अब इससे क्यों छिपाऊं ?" यों सोचकर उसने कहा, "सखी ! मेरी लज्जा अब तेरे हाथ है; देख, ऐसा न हो कि इस भेद को दूसरा जानले और मुझे फिर मुंह दिखाने की भी संसार में ठौर न रहै।"

सुसंगता बोली, "प्यारी इसमें लज्जा किस बात की है? तुझ सी कन्या-रत्न को ऐसाही बर चाहिए जैसा कि तूने आप परख निरख कर चुन लिया है"।

सागरिका, "नहीं, सखी ! तू मेरी लज्जा पर पानी न फेर ! देख, मैं बड़ी दुखिया हूं, मुझपर दया कर।"

सुसंगता—"अच्छा, सखी ! मैं ऐसा ही करूंगी जिसमें इस भेद को और कोई न जानले (चिहुंक कर) अरे ! बड़ी भूल हुई ! देख (पिंजरे की ओर उङ्गली उठा कर यह निगोड़ी सारिका बड़ी खोटी है, यदि इसने मेरी तेरी बातें सुन कर स्मरण कर ली हों तो अनर्थ का सामना है। यह निगोड़ी और किसी के सामने यदि इस समय की सुनी हुई बातें रटने लगेगी तो क्या करूंगी ?"

सुसंगता की इस बात ने सागरिका के हृदय को हिला दिया। वह भय-चकित हो कभी सारिका की ओर और कभी सुसंगता की ओर निहारने लगी, और फिर बोली, "सखी, सुसंगता ! यह तो बहुत बुरा हुआ, अब क्या करूं ?"

इस बात का उत्तर सुसंगता कुछ दिया ही चाहती थी कि "बन्दर भागा, बन्दर भागा; हटो, भागो, दुष्ट बन्दर सोने की जञ्जीर तुड़ा कर इसी ओर आता है"। इस कोलाहल को सुन कर दोनो भयभीत हो, उठ खड़ी हुईं और कदली-कुञ्ज के बाहर निकल कर इधर उधर देखने लगीं। फिर सागरिका ने सुसंगता से कहा, "सखी, अब क्या होगा ?" सुसंगता ने उसका हाथ थाम कर कहा "डर क्या है ? मैं तो तेरे साथ ही हूं । आ, इस तमाल-वृक्ष की ओट हो जायं। निगोड़ा बन्दर आप सीधा कूदता फांदता चला जायगा"।

सागरिका,—"अच्छा, तो चित्रपट उठा लाऊं, नहीं तो कोई देख लेगा"।

सुसंगता—"पगली कहीं की ! वह देख (उङ्गली से दिखा कर) दुष्ट बन्दर आ पहुंचा, अब चुप चाप छिपजा, फिर चित्र को लेकर निहारा कीजियो"।

यों कह कर सुसंगता, सागरिका का हाथ थाम्हे हुए तमाल की ग्रोट होकर बन्दर का कौतुक देखने लगी। इतने ही में उद्यान के लतागुल्मों का नोचता खसोटता वह उत्पाती बन्दर भी ग्रा पहुंचा, ग्रैार सारिका का पिञ्जरा खोलता हुग्रा ग्रागे भागा। पिञ्जरा खुलते ही सारिका भी उसमें से पर झाड़ कर निकली ग्रैार उड़• कर एक ऊंचे वृक्ष पर जा बैठी। यह देख सुसंगता बड़ी घबड़ाई ग्रैार सागरिका से यों कहती हुई जल्दी से ग्रागे बढ़ी कि, "सखी, तू भी झट पट मेरे पीछे ग्रा। देख निगोड़ी सारिका उड़ी जा रही है, उसे पकड़ें, नहीं ता महारानी बासवदत्ता के कोप से निस्तार पाना कठिन हो जायगा"।

(५)

उधर ता दोनों जनी सारिका के पकड़ने में दौड़ धूप करने लगीं ग्रैार इधर उसी समय बसन्तक का हाथ पकड़े हुए महाराज उदयन भी मकरन्दोद्यान में पधारे। बसन्तक कहने लगा—"प्रिय मित्र! बड़े ग्रचम्भे की बात है कि एक चुटकी खाद देते ही माधवी लता कैसी लहलहा उठी! जिसको एक चुटकी खाद ने ऐसा प्रभाव दिखलाया, वह श्री खण्डदास सिद्ध प्रशंसनीय है"।

राजा–"इसमें ग्राश्चर्य की कैान सी बात है? मणि, मंत्र ग्रैार ग्रैाषधि का प्रभाव ग्रकथनीय है ग्रैार उद्भिद्-विद्या का भी ऐसा ही प्रभाव है कि सूखे लक्कड़ में भी बात की बात में नई कोंपल निकल ग्राती है, ग्रै"—

बसन्तक—(रोक कर) "मित्र! ठहरो! कान लगा कर सुनो ता यह किसकी बोली है?"

राजा–(कान लगा कर) "यह ता स्त्री के कण्ठ की सी ध्वनि है, पर बड़ी क्षीण है; हो न हो यह महारानी की प्राण से भी प्यारी सारिका है"।

बसन्तक–(ऊपर देख कर) "सच है। मित्र! यह देखो ऊपर वाली डाल पर बकवादिन मैना बैठी हुई बड़ बड़ा रही है"।

राजा—"चुप रहो, सुनो, मैना क्या कह रही है"? दोना कान लगा कर सुनने लगे ग्रैार मैना ग्राप ही ग्राप बोलने लगी।

सारिका ग्राप ही ग्राप कहती है–

"इस चित्रपट पर मेरा चित्र क्यों बनाया? सखी! तू व्यर्थ कोप दिखाती है। तूने जैसा कामदेव का चित्र लिखा, मैंने वैसा ही रति का भी चित्र बना दिया"।

बसन्तक–"परन्तु मित्र! इसका ग्रर्थ क्या है?"

राजा–"हमें जान पड़ता है कि किसी स्त्री ने ग्रतिशय प्रेम के बशीभूत हो, ग्रपने प्रियतम का चित्र बनाया हो, ग्रैार फिर उस (प्रियतम) के देखने पर बात बना कर उस (चित्र) को कामदेव का बतलाया हो, ग्रैार इसी छल पर उस स्त्री के प्रेमी ने उसी (चित्रपट) पर ग्रपनी उसी (प्यारी) का चित्र भी बना कर उसे रति का चित्र बतलाया हो। फिर इन्हीं बातें का किसी ढब से सुनकर यह सारिका उसी सुनी हुई बात की ग्रावृत्ति करती हो ता कोई ग्राश्चर्य नहीं है। क्योंकि इस (सारिका) का यह स्वभाव है कि जो बात सुनती है उसीको बार बार रटा करती है, जब तक कि कोई दूसरी बात न सुनले"।

इसपर बसंतक कुछ ग्रैार पूछा चाहता था कि उसे राजा ने रोक दिया ग्रैार कहा, "मित्र! ठहरो, सुना मैना ग्रैार क्या कह रही है"।

सारिका बोलने लगी, 'प्यारी! इसमें लज्जा किस बात की है? तुझसी कन्यारत्न का ऐसा ही बर चाहिए।"

राजा ने सुन कर कहा, "इसमें ता कुछ गूढ़ रहस्य की सी झलक ग्राती है।" इतने में मैना उड़ कर कदली-कुञ्ज में जा बैठी ग्रैार दोना उसके पीछे पीछे वहीं पहुंचे। वहां पर सागरिका के लिखे हुए चित्रपट पर बसन्तक की दृष्टि पड़ी ग्रैार उसने उस चित्रपट का उठा ग्रैार राजा के हाथ में देकर कहा, "लो, मित्र; तुम बड़े भाग्यवान

है। इस चित्रपट में उसी बिरहिनी का चित्र होगा, जिसकी बात मैना कह रही थी। और वह निठुर प्रेमी भी आप ही हैं, कि उस बिरह में झुलसती हुई कामिनी की सुधि तक नहीं लेते।"

यह सुन और बसन्तक के हाथ से चित्रपट लेकर राजा हर्ष, आश्चर्य और कौतुक से उस (चित्र) को ध्यान पूर्वक देखने लगा।

प्रियपाठक! सागरिका ने राजा उदयन ही का चित्र बनाया था, वह राजा ही पर मोहित हो अपने प्राण निछावर कर बैठी थी। उसने जिसे कामदेव समझ कर चित्रित किया था वह राजा उदयन ही था, अस्तु।

इधर तो राजा बसंतक के साथ कदली-कुञ्ज में बैठा हुआ बड़े चाव से उस चित्र को, जिसमें कि उसी (राजा) के पास ही एक आलोकसामान्य सुन्दरी चित्रित थी, देख रहा था; और उधर सारिका के हाथ न आने से निराश हो कर सागरिका और सुसंगता दोनो जनी चित्रपट लेने के लिये कदली-कुञ्ज की ओर लौटीं। और ज्योंहीं वे दोनों कुञ्ज के भीतर कुछ दूर गई होंगीं कि उन्होंने बसन्तक के साथ बैठे हुए राजा को उसी चित्र का अवलोकन करते देखा। राजा को देख कर दोनों ठिठकीं और लताओं की झुरमुट में छिप कर देखने लगीं कि राजा के आगे अब इस चित्र का क्या परिणाम होता है।

जब राजा को चित्र में आंख गड़ाए देर हो गई, तब बसन्तक ने उसके ध्यान-भंग करने के लिये युक्ति से कहा–

"मित्र! यह सुन्दरी सिर झुकाए हुए क्यों लिखी गई है?"

राजा–(चिहुंक कर) "मित्र, देखो! यद्यपि यह कामिनी चित्र में लिखी हुई भर है, परन्तु तिस पर भी बल-पूर्वक हमारे हृदय में पैठी जाती है"।

यह सुन कर सुसंगता ने सागरिका को चुटकी भर कर धीरे से कहा, "ले, सखी, तू बड़ी बड़-भागिन है, तेरा प्यारा तुझीको सराह रहा है।"

सागरिका—(लज्जा से सिर नीचा कर के) "सखी! तू क्यों व्यर्थ मुझे पानी पानी किए डालती है!"

बसंतक,—"पर मेरी बातों का तो उत्तर दो, यह सुन्दरी अवनत-मुख क्यों लिखी गई है?"

राजा–"मित्र! वह सब तो मैना कही गई है।"

बसन्तक—"परन्तु, मित्र! इस चित्र से तुम्हारी आंखें क्या ठंढी हुईं?"

यह सुनते ही सागरिका ने दोनो हाथ से अपने हृदय को भरजोर पकड़ कर मन ही मन कहा, "बस, इस बात का उत्तर ही मेरे मरने या जीने का कारण होगा। हे मन, तनिक धीरज धर।"

राजा ने बसन्तक की बात का उत्तर दिया– "मित्र! आंख ठंढी होने को क्या कहते हो। हम तो यही समझते हैं कि यदि यह चित्र-लिखी सुन्दरी शीघ्र हमें न मिली तो हमारे जीने के दिन पूरे हुए समझना।"

राजा का उत्तर सुनते ही सागरिका मारे हर्ष के गदगद हो वहीं बैठ गई। उसे चुटकी भर कर सुसंगता ने कहा, "ले सखी, अब तो तेरे मनोरथ पूरे होने में देर नहीं है।"

इधर तो सागरिका प्रेम में मतवाली हो रही थी, और उधर राजा चित्र लिए पागल सा हो रहा था, दोनो की ऐसी दशा देख कर चतुरा सुसंगता ने सागरिका से कहा–

"सखी, जिसके लिये तू बावली हो रही है वह तो सामने ही है।"

सागरिका–(बनावटी क्रोध से) "वाह तू बक क्या रही है? मैं किसके लिये आई हूं?"

सुसंगता—"वाह रे घुड़की! तू इतना तनती क्यों है? तूही सुध कर कि चित्र लेने आई थी या नहीं?। जो आई हो तो दो डग आगे बढ़ कर महाराज से उसे मांग क्यों नहीं लेती?"

सागरिका–(झिझक कर) "चल, दूर हो यहां से; मुझ से ऐसी बातें न किया कर"।

सुसंगता-(हंसकर) "अच्छा, न कहूंगी, पर ठहर जा, मैं ही तेरे चित्रपट को लाए देती हूं।"

इतना कह कर ज्यों ही सुसंगता घूम कर राजा की ओर बढ़ी होगी कि उसे देख कर राजा और बसन्तक दोनो सकबकाए और जल्दी जल्दी केले के पत्ते से चित्र के ढांपने लगे। सुसंगता ने आगे बढ़ कर कहा, "महाराज की जय होय!"

राजा—"अरी, सुसंगता? तुझे यह कैसे मालूम हुआ कि हम यहां हैं?"

सुसंगता—"केवल इतना ही नहीं, वरन् मैं चित्रपट का भी सब वृत्तान्त जानती हूं, से। जाकर महारानी जी से कहूंगी।"

इतना सुनते ही राजा और बसन्तक दोनो घबड़ाए। फिर राजा ने बात बना कर कहा, "सुसंगता! सुन, यह सब एक कौतुक भर था, तू व्यर्थ इस भेद के महारानी से मत कहियो; नहीं ते। उन्हें दुःख होगा।"

सुसंगता—"तो आप मेरा एक कहा करिए तो मैं भी महारानी जी से इस भेद को न कहूंगी। वरन् जहां तक होसकेगा, इसे छिपाए रहूंगी।"

राजा—(जल्दी से) "वह कौनसा काम है? जल्दी कह। हम तुझ पर प्रसन्न हैं, तू जो कहेगी, सों करेंगे।"

सुसंगता—"यही कि इस चित्रपट पर जिस सुन्दरी को आप देख रहे हैं, वह मेरी प्यारी सखी सागरिका है। उसने जबइ स चित्रपट पर आपका चित्र खैंचा तो मैंने परिहास से आपके बगल में अपनी सखी का भी चित्र बना दिया। पर ऐसा करने से वह मुझसे रूठ गई है, सो आप दया कर उसे मना दीजिए। यहीं पासही उस (उंगली से दिखा कर) लता की ओट में वह बैठी है। यदि इतना काम आप मेरा कर दीजिए, तो मैं भी महारानी जी से कुछ न कहूंगी।"

यह सुनतेही राजा फड़क उठा और उसने आतुरता से पूछा, "बता, बता! कहां है वह हमारे हृदय की आराध्य देवी? कहां है, जल्दी बता?"

इतना सुनतेही सुसंगता बड़ी प्रसन्न हुई और राजा को लिए हुए वहीं पहुंची, जहां सागरिका बैठी थी। पीछे पीछे बसन्तक भी था। सागरिका राजा को सामने देख हृदय में बड़ी प्रसन्न हुई और उठ खड़ी हुई, पर लज्जा से सिर झुकाए हुए थी।

बसन्तक—(सागरिका को देख कर) "वाह वाह मित्र! है। तुम बड़े भाग्यशाली। देखो! ऐसी सुन्दरी कन्या नरलोक में तो क्या देवलोक में भी न होगी। हमारे जान विधाता इसे बना कर स्वयं इसकी अलौकिक गढ़न पर विस्मित हुआ होगा।"

राजा—(हर्ष से) "मित्र! सच कहते हो। देखो! ब्रह्मा ने इस स्त्री-रत्न को बना कर इसके नेत्र-कमल के आगे अपने कमलासन के दलों की आभा निरी फीकी देखी होगी, और तब निश्चय उसने आठों आंखें फाड़ फाड़ कर और चारों सिर हिला हिला कर आप ही अपने को असंख्य धन्यवाद दिया होगा।"

यह सुन सागरिका ऐसी लज्जित हुई कि सुसंगता की ओर रिस से घूरती हुई चल खड़ी हुई। उसे जाते देख राजा ने उसके सम्मुख आकर बड़े चाव से कहा, "हे सुन्दरि! यद्यपि तू ऊपर से रूखापन दिखाती है, पर तेरा अन्तर अतिशय सरस है। तू जाने के लिये इतनी उतावली क्यों कर रही है?" राजा के इतने कहने पर भी जब लज्जा-वश सागरिका जाने ही लगी तब सुसंगता ने परिहास से राजा से कहा,—"महाराज इसका बड़ा तीखा स्वभाव है। इसलिये आप इसके दोनों हाथ थाम्ह कर इसे प्रसन्न कीजिए।"

यह सुन, राजा ने बड़े अनुराग से सागरिका के दोनों हाथ पकड़े और वह बिचारी लज्जा के भारसे झुकी जाने लगी। अवसर देख कर बसन्तक ने कहा, "लो, मित्र! आज तुम्हें अपूर्व श्री का लाभ हुआ"

राजा,—"सच है, यह सुन्दरी साक्षात् लक्ष्मी है और इसके करतल-युगल पारिजात के नवीन दल हैं। नहीं तो पसीने के बहाने से इनमें से अमृत क्योंकर टपकता"।

सुसंगता ने सागरिका की ओर कटाक्ष कर के कहा, "प्यारी, सखी ! तू बडी कठोर है। देख महाराज तेरा इतना आदर करते हैं, और तू तनिक भी नहीं प्रसन्न होती।"

सागरिका—(भौंवे तानकर) "तू अब भी चुप नहीं होती ? चल दूर हो, यहां से !"

सुसंगता—(हंस कर) "प्यारी, सागरिका, अपनी सहेलियों पर अकारण इतना रोष करना तुझे नहीं फबता"।

सागरिका—"चल, परे हो, अब मैं तुझसे कभी न बोलूंगी"।

बसन्तक—"यह तो सचमुच बासवदत्ता ही है"

बसन्तक के मुख से इतना निकलतेही राजा ने घबरा कर सागरिका का हाथ छोड़ दिया और वह भी डर कर सुसंगता के साथ जलदी से भाग कर एक लता की ओट में जा छिपी। तब राजा ने चारो ओर देख कर बसन्तक से पूछा, "क्यों ! कहां है बासवदत्ता ?"

बसन्तक,—"मित्र ! बासवदत्ता यहां कहां है ? हमने इस सुन्दरी के कोप को देख कर कहा था कि यह भी बासवदत्ता ही सी है। इसमें भी बड़ा क्रोध भरा हुआ है"।

राजा—(पश्चात्ताप करके) "दूर हो, पागल ! तैने अनाप शनाप बक कर सारा सुख-स्वप्न भङ्ग कर दिया। भाग्यों से ऐसी रसीली 'रत्नावली' हाथ आई थी, पर उसे गले में न डाल सके, तूने बीच ही में उसे हमसे दूर कर दिया"।

(६)

राजा इस प्रकार सागरिका के लिये मनमें पछतावा कर रहा था कि इतने ही में नवमल्लिका की क्यारियों में घूमती हुई महारानी बासवदत्ता भी कांचनमाला के साथ कदली कुञ्ज में आ पहुंची और वहां राजा को देख अचरज मान कर बोली—"महाराज की जय होय ! प्राणनाथ, आप यहां अकेले क्या कर रहे हैं ?"

राजा एकाएक बासवदत्ता को देख कर बहुत ही सकपकाया और कुछ उत्तर न दे सका। इतने ही में बासवदत्ता की दृष्टि उस चित्रपट पर पड़ी और चट उसने चित्र उठा कर देखा। देखते ही मारे क्रोध के वह थर थर कांपने लगी, फिर राजा की ओर कोप से घूर कर बोली—"प्राणनाथ ! इस चित्र को किसने लिखा है ?" यह सुनते ही राजा सटपटा कर नीचा मुंह करके उत्तर सोचने लगा।

इतने ही में बसन्तक बात गढ़ कर कहने लगा—"महारानी जी आप इस चित्र के विषय में कोई दूसरा विचार न करें। इस चित्र का यह वृत्तान्त है कि हमने अपने प्रियमित्र (महाराज) से इस बात पर बिवाद किया कि अपना चित्र आपही कोई भी नहीं बना सकता। बस, हमारी इसी बात का खण्डन करने के लिये महाराज ने अपने हाथ से अपना चित्र बना डाला"।

राजा—(शीघ्रता से) "हां प्रिये ! बसन्तक ने जो कहा, इसे सच जानो"।

बासवदत्ता—(राजा से) "प्राणप्रिय ! तो फिर यह दूसरी स्त्री-मूर्त्ति बसन्तक जी की लिखी हुई होगी ?"

राजा,—"एं, एं ! हां ! ठीक ? तो यह मूर्त्ति, तो"—

बसन्तक—महारानी जी ! यह मूर्त्ति तो निरी कल्पित है। आप कुछ आशंका न करें"।

राजा—"और सच तो यों है, कि इस स्त्री को चित्र देखने के पहिले कभी नहीं देखा"।

बसन्तक—"हम यज्ञोपवीत की शपथ खा कर कहते हैं कि आज के पहिले इस सुन्दरी को हम लोगों ने कभी नहीं देखा"।

इतने में रानी का क्रोध बढ़ता देख उसकी परिचारिका कांचनमाला ने धीरे से उस (रानी) के कान में कहा—"महारानी जी ! यदि ऐसा हो भी तो क्या आश्चर्य है ? कभी कभी कोई बात घुणाक्षर-न्याय की भांति मिल भी जाया करती है"।

बासवदत्ता—"तू निरी सीधी सादी है, इस प्रपञ्च को क्या समझेगी ? चुप रह ! तैने इतना भी

न समझा कि महाराज और बसन्तक ने कैसी वक्रोक्ति से भरा हुआ उत्तर दिया है। (राजा से) प्राणेश्वर ! मेरे माथे में पीड़ा होने लगी, सो मैं जाती हूं। परमेश्वर आपका मनोरथ पूरा करे, आप प्रसन्न रहें"।

राजा—(अंचल का छोर पकड़ कर) "प्रिये ! प्रसन्न हो, कोप को दूर करो; विचार कर देखो, इसमें हमारा कुछ भी अपराध नहीं है। तुम्हारे मन ने झूठी आशङ्का को धारण किया है। हाय ! तुम्हारे भयानक क्रोध के आगे हमारी बुद्धि चकरा गई है, कोई ठीक ठीक उत्तर नहीं सूझता। इसलिये, प्रिये ! क्षमा करो, ठहरो"।

बासवदत्ता—(विनय से अंचल को छुड़ा कर) "प्राणेश्वर ! आप व्यर्थ खेद न करें। सचमुच मेरे माथे में पीड़ा होने लगी है।"

इतना कहकर अपनी परिचारिका कांचनमाला के साथ बासवदत्ता चली गई और राजा नीची नार किए सोच विचार में डूब गया। उसकी ऐसी अवस्था देख बसन्तक ने कहा—"लो मित्र ! आज तुम्हारे अच्छे चन्द्रमा थे कि चट पट बासवदत्ता रूपी अकाल मेघ तुम्हारे सामने से टल गया।"

राजा—"बसन्तक ! तू महा मूर्ख है, जो महारानी के यों चले जाने से प्रसन्न होता है। उसके कोप में पड़कर हमें पतङ्ग की भांति भस्म होना पड़ेगा"।

बसन्तक—"अरे ! अब तो वह चली गई न ! फिर तुम क्यों इतना पछतावा करते हो ?"

राजा—"मित्र ! तुम रानी के कोप की गम्भीरता नहीं जानते। अब जबतक हम उसे प्रसन्न न करलें, हमारा निस्तार नहीं है"।

बसंतक—"ऐसा है, तो चलो ! अन्तःपुर में चलकर चण्डी देवी को प्रसन्न करें"।

(७)

राजा उदयन बसन्तक के साथ महल की ओर चला और उसने रानी के पास जाकर बड़ी बिनती की, पर उस गुरु-मानवती रानी का तनिक भी मान दूर न हुआ। अब रानी बासवदत्ता तो सिर की पीड़ा का बहाना किए कोप-भवन में बैठी दिन बिता रही है, और राजा सागरिका के बिरह में खाना, पीना, सोना और हँसना बोलना छोड़कर दिन रात लम्बी लम्बी उसांसें लेता हुआ, बड़ी कठिनता से दिन काट रहा है।

राजा की रुग्नावस्था का समाचार सुन कर महारानी बासवदत्ता ने रुष्ट रहने पर भी राजा के समाचार लेने को अपनी प्यारी परिचारिका कांचनमाला को भेजा है। परन्तु बिलम्ब होने पर भी जब कांचनमाला न लौटी तो महारानी ने घबड़ा कर मदनिका नाम की परिचारिका को कांचनमाला को ढूंढने के लिये भेजा।

मदनिका कांचनमाला को ढूंढ़ती हुई जारही थी कि मार्ग में कौशाम्बिका नाम की परिचारिका से उसने सुना कि "कांचनमाला महाराज का समाचार लेकर आरही है। यह कह कर कौशाम्बिका तो अपने काम को चली गई और मदनिका थोड़ी ही दूर और आगे गई होगी कि उसे कांचनमाला लौटती हुई मिली। मदनिका को देख कर कांचनमाला ने पूछा, "तू कहां चली ?"

मदनिका—"तुझी को खोजने के लिये महारानी जी ने मुझे भेजा है"।

कांचनमाला—"तो चल ! जल्दी से चलकर रानी जी को एक आनन्द-समाचार सुना ऊं"।

मदनिका—"क्या ! महाराज आरोग्य हैं ?"

कांचनमाला—"उन्हें केवल सागरिका के रूपोन्माद रोग ने घेर रक्खा है"।

मदनिका—"तो यह तो कोई आनन्द का समाचार नहीं है"।

कांचनमाला—"तो सुन ! उस चित्रपट को देख कर, जिसमें कि महाराज के साथ सागरिका का चित्र लिखा गया है, महारानी ने उस (सागरिका) पर रुष्ट होकर उसकी चौकसी का भार

सुसंगता को सौंपा है और सुसंगता पर प्रसन्न होकर महारानी जी ने उसे अपने पहिरने के वस्त्र भी पुरस्कार में दिए हैं। सो वही सुसंगता बसन्तक से मिलकर यह कह रही थी कि "आज सायंकाल के समय सागरिका को वही कपड़े पहिना कर महारानी बासवदत्ता के वेश में महाराज से माधवीलता-मण्डप में मिलाऊंगी"। बस यही आनन्द समाचार है, जिसे मैं चलकर महारानी जी को सुनाऊंगी"।

मदनिका ने कहा,—"हां! सखी! यह सचमुच आनन्द-समाचार है, और जान पड़ता है कि इस समाचार को सुनकर महारानी तुझे गहरा पुरस्कार देंगी"।

बस, यों बातें करती हुई दोनों अन्तःपुर में गईं।

(८)

अपने निभृत-निवास में पर्य्यङ्क पर पड़ा हुआ, राजा उदयन सागरिका की चिन्ता कर रहा है। इतने ही में हँसते हुए बसन्तक ने आकर कहा, "लो, मित्र! सब ठीक है, उठो, चिन्ता छोड़ो। हमारे रहते तुम क्यों खेद करते हो?"

बसन्तक की बातों में ऐसी आकर्षण-शक्ति थी कि जिसे सुनतेही राजा चट शय्या से उठ बैठा, और उसका हाथ पकड़ कर पूछने लगा, "कहो, मित्र! क्या ठीक किया है?" यह सुन कर बसन्तक ने राजा के कान में कुछ कहा, जिसे सुन वह ऐसा हर्षित हुआ कि चट उसने अपने हाथ के कड़े उतार कर बसन्तक को पहरा दिए और कहा, "तो, मित्र! अब कितना दिन और शेष है?"

बसन्तक ने कहा, "कुछ थोड़ा सा; देखो! संध्याबधू संकेत करके सूर्य्य को अपनी ओर आने के लिये त्वरा करा रही है, और वह भी संध्या के आवाहन से मुग्ध होकर शीघ्रता से अस्ताचल की ओर पैर बढ़ाता हुआ चला जारहा है"।

राजा—"सच है, अब दिन बीतने में विशेष विलम्ब नहीं है। तो, अच्छा! चलो, धीरे धीरे उसी ओर चलें"।

इस प्रकार कह कर राजा उदयन चुप चाप धीरे धीरे बसन्तक के साथ माधवीलता-मण्डप में पहुंचा। उस समय अन्धकार ने चारों ओर से वहां अपना अधिकार जमा लिया था। वहां पहुंच कर बसन्तक ने कहा, "मित्र! तुम यहीं ठहरो, तो हम जाकर आपकी प्यारी सागरिका को ले आवैं।"

राजा—"अच्छा, मित्र! पर बिलम्ब मत करना। क्योंकि प्रियतमा का क्षणिक वियोग भी अब कल्पसम हो रहा है"।

"आप उतावले न होइए" यह कह कर बसन्तक सागरिका को लाने के लिये चला गया और राजा वहीं अकेला बैठा बैठा एक एक पल को युग के समान बिताने लगा। इधर तो माधवीलता-मण्डप में सागरिका के लिये राजा टकटकी लगाए बैठा है और उधर कांचनमाला के साथ बासवदत्ता चित्र-शाला के द्वार पर, जहां कि छिप कर सागरिका के लिये बसन्तक आकर बैठा था, आई।

प्रिय पाठकों को ध्यान रहे कि बसन्तक और सुसंगता में यह बात पक्की हुई थी कि सन्ध्या समय बासवदत्ता का रूप धारण करके सागरिका चित्र-शाला के द्वार से आवैगी। यह बात धूर्त्ता कांचन-माला ने सुन कर महारानी बासवदत्ता से कही। यही कारण है कि बासवदत्ता कांचनमाला को सुसंगता की भांति सँवार कर और आप घूंघट काढ़ कर चित्रशाला के द्वार पर आई। वहां पहिले ही से बसन्तक बैठा था। कांचनमाला ने सुसंगता की भांति उसे इंगित किया और वह चट पट उठ कर कांचनमाला को सुसंगता और बासवदत्ता को सागरिका समझ कर तथा उन दोनों को अपने साथ लेकर राजा के समीप माधवीलता-मण्डप की ओर चला।

[शेष आगे]



साहित्याचार्य पण्डित अम्बिकादत्त व्यास

सरस्वती

सचित्र मासिक पत्रिका

भाग २] फरवरी १९०१ ई० [संख्या २

साहित्याचार्य्य

पण्डित अम्बिकादत्त व्यास

भारतवर्ष में ऐसा विरलाही कोई विद्या-रसिक मनुष्य होगा जो अनेक-गुण-मण्डित पण्डितवर सुकवि साहित्याचार्य्य भारत-रत्न भारतभूषण घटिका-शतकीय, शतावधानी, अनेक विद्यालंकृत अम्बिकादत्त व्यास के नाम से अपरिचित हो। हा हन्त! आज वही श्रद्धेय विद्वद्रत्न से भारत रहित है और उनकी असामयिक मृत्यु से पठित समाज को जो हानि हुई है, उसकी शीघ्र पूर्त्ति होनी कठिन है।

राजपूताने में जयपुर के समीप भानपुर नामक ग्राम में प्रसिद्ध ज्योतिषी पण्डित ईश्वरराम जी गौड़ रहते थे। इनके पूर्वज डेढ़ दो सौ वर्ष पूर्व मण्डा ग्राम से यहां आ बसे थे। इनका पराशर गोत्र, यजुर्वेद, तीन प्रवर, और "भौंडा" नाम से प्रसिद्ध कुल था। इनके प्रपौत्र पण्डित हरिराम जी "धूला" ग्राम के रावत जी के आश्रय में रहते थे, परन्तु हरिराम जी के पुत्र पण्डित राजाराम जी "धूला" से स बन्ध छोड सकुटुम्ब काशी चले आए और यहां के प्रसिद्ध ज्योतिषियों में गिने जाने लगे। इनके अनेक सन्तानो में चिरञ्जीवी दो ही हुए, ज्येष्ठ पण्डित दुर्गादत्त जी* और कनिष्ठ पण्डित देवीदत्त जी।

इनके दो पुत्र और तीन कन्याएं थीं। बड़े पुत्र पण्डित गणेशदत्त जी और छोटे इस चरित्र के नायक पण्डित अम्बिकादत्त व्यास जी हुए।

व्यासजी का जन्म, जब कि इनके पिता सकुटुम्ब अपनी जन्मभूमि (जयपुर) को गए थे, वहीं

* ये दुर्गादत्त जी वेही हैं जो कवि मण्डली में दत्त कवि के नाम से प्रसिद्ध हैं। इनका जीवनचरित्र पुस्तकाकार छप गया है।

सिलावटी महल्ले में सम्वत् १९१५ वैक्रमीय चैत्र शुक्ला अष्टमी के हुआ था।

पांचवें वर्ष में व्यास जी के अक्षरारम्भ कराया गया और खेल कूद के साथही साथ अमरकोष और रूपावली का अभ्यास कराया जाने लगा। घर की स्त्रियां भी पढ़ी लिखी थीं, इसलिये इनकी शिक्षा उत्तमता से होने लगी। आठ नौ वर्ष के वय में इन्हें शतरञ्ज और सितार का भी चसका लगा और कविता का व्यसन हुआ।

दस वर्ष के वय में काशी के प्रसिद्ध विद्वान् पण्डित घनश्याम जी के द्वारा इनका यज्ञोपवीत कराया गया और गोस्वामी श्रीकृष्ण चैतन्यदेव जी के पास, जो कविता में अपना नाम 'निजकवि' रख गए हैं, व्यास जी भाषा-काव्य का अध्ययन करने लगे। उस समय उक्त गोस्वामी जी के पास काशी के प्रसिद्ध कवियों में से मणिदेव के पुत्र सुप्रसिद्ध हनुमान कवि, द्विजकवि, पण्डित मन्नालाल, गोस्वामी दम्पतिकिशोर, पञ्जाब के बाबा निहाल सिंह, आदि भाषा काव्य पढ़ने जाते थे। उन लोगों के पाठ सुनने से व्यास जी की प्रतिभा दिन दिन बढ़ने लगी और उक्त गोस्वामी जी से और व्यास जी के पिता दुर्गादत्त जी से अतिशय स्नेह था, इस कारण उक्त गोस्वामी जी व्यास जी के शुद्ध चित्त से काव्य के सुगूढ़ मर्मों के समझाते थे, जिसके कारण ये बहुत ही शीघ्र काव्यकुशल हो गए और काव्य के प्रस्तार, नष्ट, उद्दिष्ट, मेरु, मर्कटी, पताका आदि का अच्छी तरह अभ्यास करने लगे।

फिर तो इनकी कविता का श्रीगणेश हुआ और सं० १९२६ में जोधपुर के राजगुरु ओझा तुलसी दास जी जब काशी आए तो उनके दरबार में, जहां कि सैकड़ों कवि और पण्डित वर्त्तमान थे, व्यास जी ने "जनि तोरहु नेह के कांचो तगा" वाली समस्या की पहिले पहिल पूर्त्ति की, जिसकी दर्बार में सबने बड़ी प्रशंसा की। उस समय व्यास जी केवल बारह वर्ष के बालक थे।

फिर गोलघर के महाराज श्रीगोस्वामी कृष्ण-चैतन्य देव जी ने व्यास जी के कथा कहने की ओर झुकाया और अपने यहां प्रति एकादशी के एकादशीमाहात्म्य कहवाने लगे और जब व्यास जी ने वयोवृद्धि और विद्यावृद्धि के साथ ही साथ पहिले पहिल गोलघर में श्रीमद्भागवत दशमस्कन्ध की कथा कही तो उक्त गोस्वामी जी ने इन्हें "व्यास" की उपाधि दी, क्योंकि इनकी "व्यास" की पदवी परम्परागत नहीं है।

जब सम्वत १९२७ में भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र जी ने कवितावर्द्धिनी सभा स्थापित की तो उसमें व्यासजी को भी बुलाया, क्योंकि उसके पूर्व भारतेन्दु जी इनको कवित्व शक्ति से परिचित हो चुके थे। उस सभा में पहिली समस्या यह दी गई थी—

"चिरजीवी रहौ विकटोरिया रानी"

इस समस्या पर बाबू साहब ने यह भी आज्ञा दी थी कि प्रातःकाल का वर्णन हो। इस समस्या पर जो पूर्त्तियां हुईं उनमें व्यासजी की कविता बाबू साहब ने सबसे अच्छी ठहराई, क्योंकि व्यास जी के अतिरिक्त और किसी कवि की पूर्त्ति में भी "विकटोरिया" और "कटोरिया" का यमक न था। इस पूर्त्ति के सहित बाबू हरिश्चन्द्रजी ने अपने "कविवचन सुधा" नामक पत्र में जो अपना मत प्रकाशित किया था उसे हम ज्यों का त्यों नीचे उद्धृत करते हैं—

"कविवचन सुधा, जि० २, कार्त्तिक कृष्ण ३०, सम्वत १९२७, वाराणसी (ता० ४)।

अम्बिकादत्त गौड़

आनँद तें परजा विकसे सब, कौंल से कोसलिरी हरखानी।
सेवकिनी चिरियाँ सम चारिहुँ, ओर तें बोलि रहीं मृदुबानी।
भोर प्रताप सों जाको प्रताप, लखें इमि अंबिकादत्त बखानी।
पूरी अमी की कटोरिया सी, 'चिरजीवी रहौ विकटोरिया रानी'।

इस विलक्षण बालकवि की बुद्धि भी विलक्षण ही है ग्रैार अवस्था उसकी केवल बारह ही वर्ष की है। हम इसके ग्रैार समाचार भी लिखेंगे। "

उसी समय काशिराज महाराज ने धर्मसभा स्थापित की थी ग्रैार उसमें छात्रों की परीक्षा होती थी, तथा जो छात्र परीक्षोत्तीर्ण होता उसे पारितोषिक भी मिलता था। व्यासजी ने भी साहित्य में वहां जाकर परीक्षा दी ग्रैार उत्तीर्ण होने पर पारितोषिक बांटते समय काशिराज महाराज श्रीमदीश्वरीप्रसाद नारायणसिंह बहादुर ने इन्हें अत्यल्पवय में पारितोषिक का अधिकारी देख ग्राश्चर्य किया ग्रैार कुछ प्रश्न किए, जिनका उत्तर व्यासजी ने श्लोकवद्ध दिया। तब तो महाराज साहब बहुत ही चकित ग्रैार प्रसन्न हुए ग्रैार अपनी सभा के प्रधान विद्वान् पण्डितवर श्री ताराचरण तर्करत्न भट्टाचार्य्य* से कहा कि यदि ग्राप कृपा पूर्वक इस बालक को कुछ पढ़ाया करें तो यह बहुत शीघ्र व्युत्पन्न हो जायगा ग्रैार व्यासजी से कहा कि ग्राप कभी कभी ग्राया कीजिए।

जिस समय व्यासजी का वय केवल बारह वर्ष का था उस समय एक वृद्ध तैलङ्ग अष्टावधान काशी में ग्राए ग्रैार उन्होंने जगत प्रसिद्ध गुणग्राही भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र जी के यहां अपना अवधान-कैाशल दिखलाया। उस समय बाबू साहब ने उपस्थित महाशयों की ग्रोर देख कर कहा कि यदि इस समय कोई काशीवासी विद्वान् भी इसी प्रकार का कुछ चमत्कार दिखलावै तो काशी का नाम रह जाय। यह सुन व्यास जी ने विनीत भाव से कहा कि यदि ग्राज्ञा हो तो मैं एक सरस्वती यंत्र में कविता करूं। सुनते ही बाबू साहब ने सस्नेह दवात कलम कागज इनके सामने सरकाया ग्रैार ग्राज्ञा दी।

* इन्होंने "शृङ्गाररत्नाकर" नामक एक अद्वितीय साहित्य ग्रन्थ बनाया है जिसका एक भाग तो छपा था जो अब नहीं मिलता और दूसरा भाग लिखित है।

फिर व्यास जी ने इस प्रकार के कोष्ठ को बना कर

पूछा कि किस विषय का वर्णन हो। इस पर भारतेन्दु जी के सहोदर अनुज बाबू गोकुलचन्द्र जी ने कैातुक पूर्वक कहा कि इस (ग्रंगुली से दिखा कर) घड़ी का वर्णन हो। इस पर व्यास जी ने कहा कि इन कोष्ठों में ग्राप जहां जहां जो जो अक्षर कहें मैं लिखता जाऊं, सब कोष्ठ भर जाने पर सीधा बांचने में अभिलषित वर्णन छन्दोबद्ध तयार हो जायगा।

निदान इस विषय का मर्म तैलंग शतावधान को समझा दिया गया ग्रैार वेही अपने इच्छानुसार उक्त यंत्र के कोष्ठों में अक्षर भरने लगे। अन्त में कोष्ठ की पूर्त्ति होने पर यह श्लोक बन गया—

"घटी सुवृत्ता सुगतिर्द्वादशाङ्कसमन्विता।
उन्निद्रा सततं भाति वैष्णवीव विलक्षणा" ॥

इस विलक्षण अवधान के होते ही साधुवाद से भारतेन्दु जी का दीवानखाना गूंज उठा ग्रैार उसी विषय पर तैलंग शतावधान ने एक ग्रैार श्लोक बनाने के लिये अनुरोध किया। इस बेर बाबू गोकुलचन्द्र जी ने कोष्ठों में अक्षर भरे ग्रैार पूरे होने पर यह छन्द बन गया—

"घटा खटखटा--शब्द--व्याजेन कथयत्युत।
रामं रट रट प्राज्ञ किमन्यैर्विफलैः श्रमैः" ॥

यह सुन कर शतावधान ने कहा कि "सुकविरेषः"। इसपर बाबू हरिश्चन्द्र जी ने कहा कि लीजिए अब ग्रापको सुकवि का ख़िताब मिल गया।

उस समय बनारस संस्कृत कालेज के अध्यापक पण्डित शीतलाप्रसाद त्रिपाठी, पण्डित बेचनराम त्रिपाठी प्रभृति विद्वान् भी उपस्थित थे। उन लोगों ने भी कहा ठीक है, यह बालक सुकवि पद के योग्य है और समय पाकर अवश्य सुकवि हो जायगा। अनन्तर भारतेन्दु हरिश्चन्द्र जी ने व्यास जी से कहा कि "इससे बढ़ कर और आपको क्या दें" और यह कह कर निज हस्तकमल से एक प्रशंसापत्र लिख दिया और उसमें "काशी-कविता-वर्द्धिनी सभा से सुकवि पद मिला" इसकी सूचना दी। तब से व्यास जी अपनी कविता में कहीं 'सुकवि' और कहीं पूरा नाम देने लगे।

तेरह वर्ष के वय में व्यास जी का विवाह हुआ। उसी वर्ष ये अपने पिता के साथ डुमरावँ राजधानी में गए थे। वहां के महाराज राधिकाप्रसाद सिंह बहादुर ने इनकी विलक्षण बुद्धि चातुरी और कविता से प्रसन्न होकर इन्हें दो मास अपने यहां रक्खा और बराबर समस्या पूर्त्ति और श्रीमद्भागवत के श्लोकों की व्याख्या कराई।

धीरे धीरे व्याकरण और साहित्य के साथ साथ इधर तो इन्हें सांख्ययोग, वेदान्त आदि दर्शनशास्त्रों का चसका लगा और उधर सितार जलतरंग, नसतरंग और संगीत का शौक बढ़ा, पर उत्तमता यह थी कि एक से दूसरे काम में बाधा नहीं पड़ती थी। इनके पिता वृद्ध हो चुके थे इसलिये कुटुम्ब-पोषण-भार भी इसी अल्पवय से इनके ऊपर पड़ने लगा। तब ये किसी उद्योगवश रानी बड़हर के यहां अनुष्ठान करते और कथा कहते थे। वहां पण्डितों का वितर्क सुन कर इन्हें शास्त्रार्थ का भी व्यसन हुआ और ये व्याकरण और न्याय के खर्रे घोखने लगे।

स० १९३३ में काशीगवर्नमेण्ट कालेज के ऐंगलो-संस्कृत विभाग में व्यास जी ने नाम लिखाया। उसी समय इन्होंने अङ्गरेज़ी के साथ बङ्गला, उर्दू, मराठी और गुर्जर भाषा का भी अभ्यास करना आरम्भ किया। उन्हीं दिनों में काशी से "आर्यमित्र" नामक एक पत्र निकलने लगा था। व्यास जी ने उसमें पहिले पहिल "हमारा कर्तव्य" शीर्षक लेख लिखा और फिर तो धीरे धीरे ये हिन्दी के अच्छे अच्छे पत्रों में लेख लिखने लगे। उसी अल्पवय में इन्होंने पहिले पहिल "प्रस्तार दीपक" और "ललिता नाटिका" लिखी। फिर तो काल पाकर इन्होंने शतावधि ग्रन्थ लिख डाले, जिनके विषय में हम इस प्रबन्ध के अन्त में लिखेंगे।

स० १९३४ में ऐंग्लो की उत्तम कक्षा तक पढ़ कर व्यास जी ने अङ्गरेज़ी का अभ्यास घर ही पर करना प्रारम्भ किया। उसी वर्ष व्यास जी ने काश्मीराधीश के संस्कृत विद्यालय में नाम लिखाया और वहां की साहित्य परीक्षा दी।

स० १९३७ में काशी गवर्नमेण्ट कालेज में आचार्य्य परीक्षा नियत हुई। यह परीक्षा और सब परीक्षाओं से उत्तम है। इसलिये व्यास जी ने काश्मीराधीश का विद्यालय छोड़ कर गवर्नमेण्ट कालेज में नाम लिखाया और एक वर्ष के पूर्ण परिश्रम करने के पश्चात् स० १९३८ में साहित्य की परीक्षा पास की और गवर्नमेण्ट से इन्हें "साहित्याचार्य" की उपाधि मिली।

यद्यपि स० १९३१ में व्यास जी की माता का देहान्त हो गया था, परन्तु पिता जी के रहने से ये बहुत स्वतन्त्र थे, पर स० १९३७ में इनके पिता जी का भी परलोक बास हो गया और उसी दुःखपूर्ण अवस्था में इन्हें "उपाधि" परीक्षा भी देनी पड़ी। व्यास जी भाग्यशाली थे कि ऐसे अवसर में भी परीक्षोत्तीर्ण हुए।

फिर बड़े भ्राता गणेशराम जी से कलह और गृहबिवाद होने के कारण व्यास जी दुखी हो कर विदेश जाने को उद्यत हुए। उसी अवसर में पोरबन्दर के बल्लभकुलीय गोस्वामी जीवनलाल जी से इनका साक्षात् हुआ। वे व्यास जी से कुछ

पढ़ने लगे। उनके साथ व्यास जी कलकत्ते गए और वहां तीन मास रहे। इस बीच में इनके वहां पर अट्ठाईस व्याख्यान सनातन-धर्म पर हुए और अनेक सभाओं में पण्डितों से शास्त्रार्थ भी हुए, जिनके वृत्तान्त उस समय के कलकत्ते के सार-सुधानिधि, उचितवक्ता और भारतमित्र आदि पत्रों में छपे थे।

कलकत्ते से आने पर व्यास जी ने स० १९३८ में वैष्णवपत्रिका नामक मासिक पत्रिका निकाली, परन्तु उसके दो नम्बर से अधिक न छपे। पीछे वही पत्रिका पीयूषप्रवाह नाम धर कर निकली जो व्यास जी के जीवित काल तक येन केन प्रकारेण निकलती रही।

अभ्यास करते करते व्यास जी की धारणा यहां तक बढ़ी कि वे २४ मिनट अर्थात् १ घड़ी में सौ श्लोक बनाने लगे। इसे देखकर काशी की ब्रह्मामृतवर्षिणी सभा ने इन्हें स० १९३८ में "घटिकाशतक" पद सहित एक चांदी का पदक (तमग़ा) दिया।

यह सब कुछ था, पर जीविका के कष्ट और ऋण से व्यास जी ऐसे दुखी हो रहे थे कि स० १९४० में ३५) रु० मासिक वेतन पर मधुबनी स्कूल के अध्यक्ष बन वहां चले गए। थोड़े ही दिनों में व्यास जी ने वहां अनेक सभाएं स्थापित कीं और पचास से अधिक व्याख्यान दिए। वहीं पर इन्होंने मैथिली भाषा का भी अभ्यास किया था।

वहां पर व्यास जी ने एक ऐसा अद्वितीय कार्य किया कि जो इनको कीर्त्ति को चिरकाल पर्यन्त अचल रक्खैगा। वह यह है कि उस समय वहां की शिक्षा-प्रणाली बड़ी दूषित थी और विद्यार्थियों की परीक्षा का कोई द्वार न रहने से वे हताश और अव्युत्पन्न रह जाते थे। यह सब दशा देखकर व्यास जी ने संस्कृत शिक्षा की व्युत्पादक अभिनव प्रणाली निकाली, जो उस समय तो लोगों को बहुत ही बुरी लगी, पर आजदिन उसी प्रणाली के प्रभाव से शतावधि विद्यार्थी प्रति वर्ष परीक्षोत्तीर्ण होते हैं। इस प्रणाली के चिरस्थायी करने के लिये व्यास जी ने सबसे पहिले उद्योग किया और "विहार संस्कृत सञ्जीवन" समाज स्थापित किया। इस कार्य में व्यास जी के विरोधी असंख्य और सहायक केवल एक मात्र विहार के स्कूलों के इन्सपेक्टर पोप साहब थे। पोप साहब ने व्यास जी की इस विषय में बड़ी सहायता की और इन्होंको उस समाज़ का प्रधान कार्यसम्पादक बनाया। इसके दृढ़ करने के लिये व्यास जी ने कई नगरों और अनेक राजधानियों में तीन सौ के लगभग व्याख्यान दिए और इतने रुपए एकत्र कर दिए कि अब चिरकाल पर्यन्त बिना किसीकी अर्थ सहायता के संस्कृत सञ्जीवन समाज का कार्य चला जायगा। पोप साहब के विलायत जाने पर उनके पीछे के अधिकारियों ने चाहा कि इस समाज को तोड़ दें, पर केवल एक मात्र व्यास जी के सन्नद्ध रहने के कारण विरोधियों की कुछ न चली और आशा है कि यह समाज चिरस्थायी रह कर सदैव व्यास जी की विमल कीर्ति की घोषणा करता रहैगा।

बिहार में व्यास जी ने सौ से अधिक धर्म सभाएं और अन्यान्य सुनीति सभाएं तथा साहित्य सभाएं स्थापित कराईं जिनमें अभी तक बहुत सी वर्त्तमान हैं। बारह वर्ष से अधिक बिहार में रहकर सातसौ से अधिक व्याख्यान व्यास जी ने दिए, जिनका लोगों पर ऐसा प्रभाव पड़ा कि आज दिन बिहार प्रान्त निवासी व्यास जी के लिये आर्त्तनाद कर रहे हैं।

स० १९४२ में ये मधुबनी के स्कूल से इस्तीफा देकर बांकीपुर चले आए। पर फिर स० १९४३ में चालीस रुपए मासिक वेतन पर मुजफ़्फ़रपुर, स्कूल के हेड पण्डित बनाकर वहां भेजे गए। वहां पर भी इन्होंने सभाओं और वक्तृताओं की धूम मचादी और सबसे उत्तम काम यह किया कि

बिहार में जितनी सभाएं ये स्थापित कर चुके थे, उन सभों की महासम्मिलनी हरिहरक्षेत्र में (संवत् १९४३) की, जिसके प्रधान सहायक महाराज दरभंगा, महाराज हथुआ और मुज़फ़्फ़रपुर के रईस बाबू परमेश्वर नारायण महता और बाबू रामेश्वर नारायण महता थे। इस महासम्मिलनी में दूर दूर के नगरों से सहस्रावधि लोग निमन्त्रित होकर आए थे।

स० १९४४ में ये भागलपुर ज़िला स्कूल में ५०) रु० मासिक पर भेज दिए गए। यहां पर भी इन्होंने सभाओं और वक्तृताओं के प्रभाव से लोगों को अपना अनुयायी बनाया और अपना व्यास यन्त्रालय स्थापित किया।

संवत १९४५ में संस्कृत में सामवत नाटक बनाकर इन्होंने महाराज दरभंगा को समर्पित किया और महाराजा साहब ने भी उसके परिवर्त्तन में इनका अपने योग्यतानुसार सम्मान किया। इस नाटक को देखकर ज़िला मैमनसिंह के रामगोपालपुर के प्रसिद्ध ज़मींदार बाबू योगीन्द्रनाथ चौधरी ने व्यास जी को बुलाया। वहां की पण्डितमण्डली में एक दिन संस्कृत में और दूसरे दिन बङ्गभाषा में इनके मनोहर व्याख्यान हुए जिनका वृत्तान्त ढाका प्रकाश आदि सामयिक बंगला पत्रों मे छपा था।

संस्कृत में इन्होंने शिवराजविजय नामक एक सुललित और वृहत् उपन्यास लिखा है। पहिले उसे महाराज हथुआ छपवाया चाहते थे, पर उनके परलोकवासी होने पर सुना है कि दरभङ्गा-नरेश महाराज रामेश्वरसिंह बहादुर सहायता से वह ग्रन्थ छप रहा है, जिसके पूर्ण हो जाने की आशा है।

भारत-धर्म-महामण्डल (दिल्ली) से "बिहार-भूषण" पद के सहित एक सोने का तमग़ा जोकि महाराज मिथिलेश्वर की ओर से बांटा गया था, व्यास जी को मिला।

संवत १९४८ में बिहारी-बिहार की लिखित पुस्तक को कोई चुरा लेगया। तब फिर व्यास जी ने पूर्ण परिश्रम के साथ इस अद्वितीय ग्रन्थरत्न को पूर्णकिया। यह महाराज अयोध्यानरेश को पूर्ण सहायता से छपा है।

संवत १९५१ में काशी की महासभा में कांकरैालीनरेश गोस्वामी महाराज श्रीबालकृष्णलाल ने "भारतरत्न" पद के साथ सुवर्ण पदक व्यास जी को दिया। उसी समय वल्लभकुलीय गोस्वामी जीवनलाल जी के साथ इन्होंने डेरा गाजीखां, डेरा इस्माइल ख़ां, आदि तक की यात्रा की। यह यात्रा डेढ़ वर्ष में पूरी हुई।

संवत १९५३ में इनकी बदली भागलपुर से छपरे में की गई। पटना कालिज के संस्कृत प्रोफ़ेसर होने के पूर्वतक ये छपरेही में अध्यापन कराते रहे।

महाराज अयोध्यानरेश ने "शतावधान" पद सहित इन्हें सुवर्ण पदक तथा सम्मान पत्र प्रदान किया और बम्बई के वल्लभकुलीय गोस्वामी घनश्यामलाल जी ने महासभा करके "भारतभूषण" पद सहित सुवर्ण पदक दिया। इन सभों के अतिरिक्त व्यास जी को सैकड़ों प्रशंसापत्र और सम्मानपत्र बड़े बड़े राजदर्बार से मिले हैं जिनका उल्लेख स्थानाभाव से नहीं हो सकता।

व्यास जी ने भारतवर्ष की यात्रा अनेक समय में कई बार करके की है और उसका विवरण भी बड़ी उत्तमता से लिखा है, पर वह प्रबन्ध अप्रकाशित और अपूर्ण ही रह गया।

संवत १९५५-५६ में इन्हें सैा रुपए मासिक में पटना गवर्नमेण्ट कालिज के संस्कृत प्रोफ़ेसर का पद मिला। पर दैव-दुर्विपाक-वशतः बिचारे अस्वस्थ शरीर से इसे भोगने न पाए और रुग्नावस्था के कई झोंके झेलते झेलते कई मास उदरामय व्याधि की असह्य यन्त्रणा भोग कर

उन्नीसवीं नवम्बर सन् १९०० को इस असार संसार को छोड़ परलोक सिधारे। इनके लोकान्तरित होने से अवश्य भारतवर्ष का एक अद्वितीय रत्न चला गया। बिहार निवासियों को इनके ऐसा पुरुष रत्न मिलना कठिन है। हिन्दी भाषा की भी इनके उठ जाने से विशेष क्षति हुई है। इनकी मृत्यु पर शोक प्रकाशार्थ काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा का जो अधिवेशन हुआ उसमें यह निश्चय हुआ है कि व्यास जी के स्मरणार्थ सभा में उनका एक चित्र लगाया जाय और उनके अप्रकाशित ग्रन्थों के छपने का यथासाध्य उद्योग कियाजाय *।

अब व्यास जी के विषय में और उनके ग्रन्थों के विषय में हम संक्षेपतः कुछ लिख कर इस प्रबन्ध को समाप्त करेंगे।

व्यास जी में 'सभा चातुर्य्य' सर्वप्रधान गुणथा। ये अपनी वाक्चातुरी से अनायास लोगों को मोहित कर लेते थे। इनकी धर्म-विषयक वक्तृताएं हृदयग्राहिणी और सरस होती थीं, केवल साहित्याचार्य्य की उपाधि पाने पर भी ये अन्यान्य दर्शन-शास्त्रों में कुशल, बहुश्रुत, बहुदर्शी और बहुज्ञ थे। इनके गद्य पद्य कैसे होते थे, यह सब पर विदित ही है, तथापि उस विषय में केवल इतनाही कहना बहुत होगा कि जैसे ये अद्वितीय बुद्धिसम्पन्न और सरस थे, वैसी सरसता इनके गद्य पद्य में नहीं है। यद्यपि हमारी इच्छा थी कि व्यास जी के ग्रन्थों की विशद आलोचना करें, पर प्रबन्ध के बढ़जाने से इस विषय को स्वतन्त्र प्रबन्ध के लिये रहने दिया है। हां, हिन्दी भाषा की लेख-प्रणाली के कतिपय विषयों में इनका विचित्र मत था और ये "इनने, उनने, इनीका, उनीका" इत्यादि विलक्षण शब्दों का प्रयोग करते थे। ये कुछ आत्माभिमानी भी थे और अपने सामने औरों की सम्मति को उपेक्षा की दृष्टि से देखते थे। इन्होंने अपनी गद्य-काव्य-मीमांसा में श्रीहर्ष आदि महाकवियों पर भी सफ़ाई के हाथ फेर कर अपना उत्कर्ष स्थापित किया है। ये काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा के सभासद भी थे, और इन्होंने सभा में एक दिन "त्वरितलेखन प्रणाली" की रचना का आभास प्रगट किया और कहा था कि इस विषय में हम सब नियम बनाचुके हैं, अब कतिपय लोगों को सिखलाना भर शेष है। इसपर सभा ने एक पारितोषिक नियत किया था कि जो व्यक्ति इस त्वरित-लेखन प्रणाली की उत्तम परीक्षा सभा में देगा उसे इतना पारितोषिक दिया जायगा और श्रीनगर, पूर्नियां, के राजा कमलानन्दसिंह बहादुर ने भी उस व्यक्ति के लिये विशेष पारितोषिक देना स्वीकार किया था। किन्तु खेद के साथ कहना पड़ता है कि अस्वस्थता-वश न तो व्यास जी किसी को यह विद्या सिखला ही सके और न किसी व्यक्ति ने उसके सीखने का उद्योग ही किया और वह विद्या व्यास जी के हृदयान्तर ही में रह गई। अस्तु, जो कुछ हो, परन्तु व्यास जी के उठजाने से धर्मसमाज हिन्दीसमाज और बिहार प्रान्त को एक विशेष हानि सहनी पड़ी इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है।

व्यास जी ने अपने जीवितकाल में जितने ग्रन्थ लिखे, उनकी नामावली नीचे प्रकाशित की जाती है। इस नामावली में जिन पुस्तकों पर (क) चिन्ह है, वे अपूर्ण रह गई हैं और जिनपर (ख) चिन्ह है वे पूर्ण तो होगई हैं पर अभी छपी नहीं हैं और शेष छप गई हैं। १ (क) प्रस्तार दीपक (हिन्दी भाषा)। २ (ख) गणेश शतक (संस्कृत)। ३ (क) शिवबिवाह। ४ सांख्य-सागर-सुधा। ५ पातञ्जलप्रतिबिम्ब (संस्कृत)। ६ (क) कुण्डली

* काशी की नागरी-प्रचारिणी सभा ने यह सिद्धान्त स्थिर कर रक्खा है कि जिनका वह विशेष सम्मान करना चाहेगी उनका चित्र सभाभवन में लगा देगी। अभी तक सर एण्टोमी मैकडोनेल, पण्डित मदनमोहन मालवीय, बाबू हरिश्चन्द्र, राजा शिवप्रसाद, राजा लक्ष्मण सिंह और पण्डित अम्बिकादत्त व्यास के चित्र बनवाने का निश्चय हो चुका है। स० सं०

दर्पण (संस्कृत)। ७ सामव्रत नाटक (संस्कृत)। ८ (क) इतिहास संक्षेप (संस्कृत)। ९ (क) रेखागणित (संस्कृत)। १० ललिता नाटिका (ब्रजभाषा)। ११ (क) रत्नपुराण (संस्कृत)। १२ (ख) आनन्द मञ्जरी (ब्रजभाषा)। १३ (क) चिकित्सा चमत्कार (दग्ध हो गया)। १४ अबोध निवारण (हिन्दी भाषा)। १५ गुणाशुद्धि प्रदर्शन (संस्कृत)। १६ ताशकौतुक पच्चीसी (हिन्दी भाषा)। १७ (क) समस्या-पूर्त्ति-सर्वस्व (संस्कृत)। १८ रसीली कजरी (हिन्दी भाषा)। १९ द्रव्यस्तोत्र (संस्कृत)। २० चतुरङ्ग चातुरी (हिन्दी भाषा)। २१ गोसङ्कट नाटक (हिन्दीभाषा)। २२ महा ताशकौतुक पचासा (हिन्दी भाषा)। २३ तर्कसंग्रह (भाषा टीका)। २४ सांख्यतरङ्गिणी (भाषा टीका)। २५ क्षेत्रकौशल (हिन्दी भाषा)। २६ (ख) पण्डित प्रपंच (हिन्दी भाषा)। २७ आश्चर्य वृत्तान्त (हिन्दी भाषा)। २८ (क) छन्दः-प्रबन्ध। २९ रेखागणित (भाषा)। ३० धर्म को धूम (ब्रज भाषा)। ३१ दयानन्दमतमूलोच्छेद (हिन्दी भाषा)। ३२ दुःख-द्रुम-कुठार (संस्कृत) ३३ पावस पचासा (ब्रज भाषा कवित्त)। ३४ कलियुग और घी (हिन्दी भाषा)। ३५ (क) दोषग्राही और गुणग्राही। ३६ उपदेशलता (हिन्दी)। ३७ सुकवि सतसई (ब्रज भाषा)। ३८ मानस प्रशंसा (ब्रज भाषा)। ३९ (क) आर्य-भाषा सूत्रधार (संस्कृत), ४० (क) भाषा भाष्य (हिन्दी)। ४१ पुष्पवर्षा (ब्रज भाषा)। ४२ भारत सौभाग्य नाटक (हिन्दी)। ४३ विहारी विहार (ब्रज भाषा—व्यास जी के यावतीय ग्रन्थों में यह सर्व प्रधान है)। ४४ रत्नाष्टक (संस्कृत)। ४५ मन की उमङ्ग (हिन्दी और ब्रज भाषा)। ४६ कथा कुसुम (संस्कृत)। ४७ पुष्पोपहार (हिन्दी और ब्रज भाषा)। ४८ मूर्त्तिपूजा (हिन्दी—यह भी अद्वितीय ग्रन्थ है)। ४९ संस्कृताभ्यास पुस्तक (संस्कृत और अंग्रेज़ी)। ५० कथाकुसुम कलिका (हिन्दी भाषा)। ५१ (क) प्राकृत प्रवेशिका (सं०)। ५२ संस्कृत सञ्जीवन (हिन्दी भाषा)। ५३ प्राकृत गूढ़शब्दकोश। ५४ (क) अनुष्टुप् लक्षणोद्धार (संस्कृत)। ५५ शिवराज विजय (संस्कृत उपन्यास)। ५६ बाल व्याकरण (संस्कृत और अंग्रेज़ी) ५७ हो हो होरी (ब्रज भाषा)। ५८ झूलनझमक (ब्रज भाषा)। ५९ स्वर्गसभा (ब्रज भाषा)। ६० विभक्ति विभाग (हिन्दी भाषा)। ६१ (क) पढ़े पढ़े पत्थर (हिन्दी)। ६२ सहस्रनाम रामायण (संस्कृत)। ६३ गद्यकाव्य मीमांसा (संस्कृत)। ६४ (क) मरहट्टा नाटक (हिन्दी)। ६५ साहित्य नवनीत (हिन्दी)। ६६ (ख) वर्णव्यवस्था। ६७ विहारी चरित्र (हिन्दी)। ६८ (ख) आश्रम धर्म निरुपण। ६९ अवतार कारिका (संस्कृत)। ७० अवतार मीमांसा (हिन्दी)। ७१ विहारी व्याख्याकार चरितावली (हिन्दी)। ७२ (क) पश्चिमयात्रा (हिन्दी)। ७३ (ख) स्वामिचरित (संस्कृत)। ७४ (ख) शीघ्रलेखप्रणाली (हिन्दी भाषा—नागरी प्रचारिणी सभा को चाहिए कि इस अद्वितीय ग्रन्थ के मुद्रित कराने का पूर्ण उद्योग करे)। ७५ गद्य काव्यमीमांसा (हिन्दी)। ७६ (क) घनश्यामविनोद (ब्रज भाषा)। ७७ (ख) रांचीयात्रा (हिन्दी भाषा)। ७८ (ख) निज वृत्तान्त।

व्यास जी की एक विवाहिता कन्या, विधवा पत्नी और राधाकुमार नाम का एक ग्यारह बारह वर्ष का पुत्र है। बालक के पढ़ने लिखने का प्रबन्ध व्यास जी के कार्य कर्त्ताओं को पूर्णरीति से करना चाहिए।

सुना है कि श्रीनगर (पूर्णिया) के गुणग्राही राजा कमलानन्दसिंह बहादुर ने २०) रु० मासिक व्यास जी की विधवा पत्नी के भरण पोषण और पुत्र के पठन पाठन के लिये नियत कर दिया है। यदि यह बात सत्य है तो राजा साहब ने अवश्यमेव यह बहुत ही प्रशंसनीय और अद्वितीय उदारता का परिचय दिया है।

जगदीश्वर व्यास जी की पुनीत आत्मा को शान्ति प्रदान करें यही हमारी प्रार्थना है।

रत्नावली

[गत अङ्क के आगे]

चंद्रोदय होने के कारण हलकी चांदनी वहां फैल गई थी और राजा उत्कण्ठित हो कर वहीं पर चारों ओर घूम रहा था। इतने ही में बसन्तक ने शीघ्रता से आगे बढ़कर सागरिका के आने की सूचना दी, जिसे सुनतेही आनन्द से विह्वल होकर राजा सागरिका के आगे बढ़कर गद्‌गद् कण्ठ से कहने लगा—"प्यारी, सागरिके! अब तो अपने वचनामृत से हमारे तापित हृदय को शीतल करो!"

राजा के ऐसे आदर के वचन, जोकि उसने सागरिका जानकर कहे थे, बासवदत्ता के हृदय में विषैले बाण के समान लगे, जिससे विकल होकर उसने अपने मन में कहा,—"हा! जब महाराज ही स्वयं अपने मुख से ऐसा कह रहे हैं तो अब क्या सन्देह शेष रहगया? हाय! जब इनका हृदय सागरिका के प्रेमसागर में निमग्न हो रहा है तो फिर ये क्यों मुझसे प्रेमसंभाषण करेंगे?"

बासवदत्ता तो मनहीं मन इस प्रकार सोच रही थी और उसे चुप देख कर बसन्तक ने कहा—"सागरिका! क्या तुम भी महारानी बासवदत्ता की भांति कठोर होगईं, जो भाग्यों से ऐसे अवसर के मिलने पर भी खुलकर महाराज से प्रेमालाप नहीं करतीं? सुनो! महारानी बासवदत्ता की कठोर बातें सुनते सुनते महाराज के कान दुखने लगे हैं, इसलिये अब तुम अपनी अमृतभरी बातों से उनमें अमृत चुवाओ"।

एक तो राजा की बातों से बासवदत्ता का हृदय विदीर्ण होही चुका था, उसपर बसन्तक की बातें तो मानो नमक की भांति उसमें लगीं, जिससे घबराकर उसने धीरे से कांचनमाला के कान में कहा—"कांचनमाला! सुना तूने? अब नहीं सहा जाता। हा! मैं अब ऐसी कटुभाषिणी हो गई! और बसन्तक जी मधुरभाषी हुए?"

कांचनमाला ने भी उसी प्रकार धीरे से बासवदत्ता के कान में कहा—"महारानी जी! आप घबराँय नहीं, इसका भरपूर बदला लेलिया जायगा। अभी आप धीरज धर कर अंत तक देख तो लें कि क्या क्या कौतुक होते हैं।"

राजा ने फिर कहा—"प्रिये प्राणवल्लभे! सागरिके! आजतक सुनते आतें थे कि चन्द्रमा को देखकर कमल संकुचित होते हैं, पर आज यह बात मिथ्या प्रतीत हुई। क्योंकि तुम्हारे मुखचन्द्र के दर्शन के लिये हमारे नेत्रकमल पहिले ही से खिल उठे हैं।"

यद्यपि बासवदत्ता ने कांचनमाला के समझाने से अपने को बहुत सम्हाला, पर राजा की ऐसी उक्ति सुनकर उससे न रहा गया और चट अपने घूंघट पट को उलट कर राजा से कहा—"आर्यपुत्र! सच है। पर क्या मैं सचमुच सागरिका हूं? हो सकते हूं; क्योंकि सागरिका के लिये आप ऐसे उन्मत्त हो रहे हैं कि सारे संसार को सागरिकामय देख रहे हैं।"

इस अद्‌भुत कौतुक को देखकर राजा और बसन्तक ऐसे घबरा गए कि थोड़ी देर के लिये दोनों आपे में न रहे। राजा बज्रपात होने से भी इतना चकित न होता, जितना कि सागरिका के स्थान पर बासवदत्ता के प्रकाश को देख कर हुआ। थोड़ी देर तक उसके मुख से एक शब्द भी न निकला, जैसे काठ मारगया हो। थोड़ी देर पीछे अपनेको सम्हाल कर उसने बड़ी अधीनताई से कहा—"प्यारी बासवदत्ता हमारे अपराध क्षमा करो, प्रसन्न हो।"

बासवदत्ता—"बस, आर्यपुत्र, बस! अब आप हमसे न बोलिए। अब आज से आप कटुभाषिणी बासवदत्ता को मरी समझिए, और उससे अपराध क्षमा कराइए जिसके आगे आप अपराधी हैं।"

बसन्तक ने अवसर देख कर कहा—"श्रीमती महारानी जी! आप बड़ी दयालु हैं; हमारे मित्र का अपराध, प्रथमापराध, क्षमा करिए"।

बासवदत्ता ने झिड़क कर कहा—"क्यों बसन्तक जी! आप फिर मुझसी कटुभाषिणी से बोलते हैं और आपको लज्जा नहीं आती? आपको धिक्कार है!"

राजा—(बासवदत्ता के पैरों में गिर कर) "प्रिये! प्राणवल्लभे! अपने अपराधी दास पर अनुग्रह करो।"

बासवदत्ता—(पैर खींचकर) बस, महाराज! मुझे क्षमा कीजिए और सच पूछिए तो अपराधिनी तो मैं हूं, क्योंकि सागरिका और आपके मिलाप में विघ्न डाल कर मैंने ही महा अपराध किया है। अस्तु आपका मनोरथ पूरा हो, मैं जाती हूं।"

इतना कह कर राजा के बहुत बिनती करने पर भी बासवदत्ता कांचनमाला को साथ लिए चली गई, और उसके चले जाने पर राजा अपनेको बार बार धिक्कारने और कहने लगा कि—"हा! अब जब तक हम बासवदत्ता को प्रसन्न न करलें, हमारा निस्तार नहीं है।" यद्यपि उसे बसन्तक अनेक प्रकार से प्रबोध देता था, पर वह किसी प्रकार धीरज नहीं धारण करसकता था, वरन् अपनी मूर्खता पर बार बार पश्चात्ताप करता था कि—"हा! हमने आंख रहते भी अन्धे होकर बासवदत्ता को न पहिचाना!!! कहीं ऐसा न हो कि हमारे निरादर से दुखी हो महा मानवती बासवदत्ता अपने प्राण दे दे। इसलिये उसे शीघ्र प्रसन्न करना चाहिए" यह सोच कर राजा बसन्तक के साथ महारानी बासवदत्ता को प्रसन्न करने के लिये चला।

(१०)

प्रिय पाठकों को स्मरण रखना चाहिए कि जब बासवदत्ता ने कांचनमाला से सुना था कि आज मेरे ही वेश में सागरिका राजा से मिलेगी, जिसके प्रधान उद्योगी बसन्तक और सुसंगता हैं, तब उसका विश्वास सुसंगता के ऊपर से भी जाता रहा और उसने अपनी और और परिचारिकाओं पर इस बात का भार दिया कि वे सब सागरिका को अपनी आंखों की ओट न होने दें। यह बात सागरिका को बहुत ही बुरी लगी और उसने ऐसे पराधीन जीवन से मरजाना उत्तम समझा।

सागरिका को सुसंगता ने बासवदत्ता के वस्त्र पहिले ही से पहिरा दिए थे, पर सुसंगता भी निरुपाय थी कि क्योंकर इतनी आंखों में धूल झोंक कर सागरिका को ले जाय; परन्तु सुसंगता को तो अवसर न मिला और सागरिका किसी ढब से सबकी आंख बचा कर संगीतशाला से निकल अशोक बन में पहुंची और वहां जाकर लता की फांसी अशोक में डालकर अपने गले में उसे लगाने का विचार करने लगी। मरने के लिये कटिबद्ध होकर एक बार सागरिका अपनी दशा को विचार कर खूब रोई और गद्गद कण्ठसे आपही आप कहने लगी,—"हा माता हा पिता हाय! आज तुम्हारी अभागिनी कन्या सचमुच अनाथिनी हो कर आप अपने प्राण देती है।" इतना कह कर ज्योंही वह गले में फांसी लगाना चाहती थी कि राजा ने आकर बलपूर्वक उसके हाथ पकड़ लिए।

राजा बसंतक के साथ महारानी बासवदत्ता को मनाने के लिये जाता था। मार्ग में अशोक वृक्ष में फांसी लगाकर सागरिका को प्राण देते देख शीघ्रता से आगे बढ़कर उसने हाथ पकड़ लिए। ऐसे अवसर में राजा को देख सागरिका भी चकमकाई और मनही मन कहने लगी—"अरे! यह तो मेरे साक्षात् हृदयेश्वर महाराज हैं! अहा! इनको देखकर तो अब मरने की इच्छा जाती रही। किन्तु पराधीनता के जीने से मरना अच्छा है और फिर ऐसा अवसर भी न मिलैगा। इसलिये, प्राणप्रिय के दर्शनों से कृतार्थ हो सुख से फांसी लगाकर मरूं!" इस प्रकार मन में सोचकर सागरिका ने राजा से कहा—"महाराज! मुझ अभागिनी को छोड़ दीजिए। हाय, मैं चिरदुःखिनी पराधीन हूं। मेरे लिये इतना ही परम मङ्गल है कि

आपको देखते देखते सुख से मर सकूंगी। फिर मुझे ऐसा अवसर न मिलेगा, इसलिये दयाकर मुझे छोड़ दीजिए। हाय! आप मुझ अनाथिनी के लिये महारानी के आगे क्यों अपराधी बनते हैं?" इतना कह कर सागरिका बिलख बिलख कर रोने और बलपूर्वक अपने हाथ छुड़ा कर फिर अपने गले में फांसी डालने लगी।

राजा ने झपट कर फिर उसका हाथ पकड़ लिया और उसके मुख को देखकर आश्चर्यित हो बसंतक से कहा, "अहा! मित्र! वेश को देखकर जिसे हमने वासवदत्ता समझा था, वह प्यारी सागरिका निकली। अहा, धन्य भाग्य, कि हम ऐसे अवसर पर पहुंच गए, नहीं तो प्यारी के चिर-वियोग में हमें आजन्म जलना पड़ता"। इतना बसंतक से कहकर फिर उसने सागरिका को हृदय से लगाकर कहा—"प्रियतमे! सागरिके! ऐसा भी दुःसाहस कोई करता है?"

प्रसन्न होकर बसंतक ने कहा—"मित्र, प्यारी का यह अचिंतनीय समागम तुम्हें चिर-सुख-दायी हो।"

राजा—"निस्संदेह, मित्र! इस समय तो बिना मेघ के अमृतवृष्टि हुई।"

बसंतक—"सच है, किन्तु कुसमय की आंधी की भांति यदि महारानी वासवदत्ता न आन पड़ें, तो यह अमृतवृष्टि निस्संदेह प्रेमबाटिका के नवीन अंकुर को पल्लवित करेगी"।

राजा—(सागरिका से) "क्यों! प्रिये! क्या हम तुम्हारे संभाषण योग्य नहीं हैं?"

सागरिका ने अपने हाथ छुड़ा लिए और सिर झुका कर कहा—"बस! महाराज, रहने दीजिए, मिथ्या प्रेम और झूठी उदारता न दिखलाइए। आप क्यों व्यर्थ एक अज्ञात-कुलशीला अनाथिनी बालिका के लिये अपनी रानी के प्रेम की उपेक्षा करके आप उसकी आंखों में अपनेको हलका करते हैं?"

राजा—(आतुरता से सागरिका का हाथ पकड़ कर) "हा! प्रिये! क्यों व्यर्थ हृदय बेधकर उसपर नमक छिड़कती हो? हा! हम क्योंकर अपना हृदय चीर कर तुम्हें दिखलावें! प्यारी! सागरिका! अभी तक तुम्हें हमारे प्रेम में सन्देह है?"

सागरिका—"आपकी बातों का क्या ठिकाना? यदि अभी महारानी आपड़ें तो आप मुझे बिन जानी पहचानी सी करके उन्हींके चरणों में लोटने लगेंगे।"

राजा—"प्यारी! तुम समझी नहीं। सुनो! रानी बासवदत्ता के साथ तो हमारा बनावटी प्रेम है और सच्चा प्रेम तो जो कुछ है वह केवल तुम्हारे ही ऊपर है, इस बात को हम शपथ खाकर कहते हैं..." इतना कहते कहते एका एक कांचन माला को साथ लिए हुए बासवदत्ता पहुंच गई और उसे देखकर सबके सब ऐसे घबरागए कि किसीसे कुछ करते धरते न बना। मानो सब चित्र लिखे से जहां के तहां खड़े रहे।

प्रिय पाठकों को स्मरण होगा कि जब राजा ने पांव पड़कर बासबदत्ता को प्रसन्न कराना चाहाथा, तोभी वह किसी तरह न मानी और चली गई थी। फिर कुछ क्रोध के दूर होने पर उसने आपही आप सोचा कि "महाराजा ने मेरे पैरों में सिर तक धर दिया और मैं न मानी, यह मेरी बड़ी भूल हुई। इसके बदले में अब मैं स्वयं चलकर महाराज को मनाऊं"। यों सोचकर बासबदत्ता कांचनमाला के साथ आ रही थी और जब अशोक बाटिका के पास पहुंची तो उसे कई लोगों के बोलचाल की आहट लगी। तब वह पैर दबाए हुए धीरे धीरे वहां पहुंची और फिर राजा, बसन्तक और सागरिका की जो कुछ बातें हुई थीं एक एक करके सब उसने सुनलीं और झटपट आगे बढ़कर क्रोध से कांपती हुई राजा के वाक्य में वाक्य मिलाकर बोली, "...खाकर कहते हैं—"

बड़ी कठिनता से राजा ने अपनेको सम्हाला और हाथ जोड़कर निवेदन किया—"देवी! बिना विचारे व्यर्थ हमें दोषी न समझो। हम सागरिका को तुम्हारा सा वेश बिन्यास देखकर ठगे गए, हमें अभीतक यही प्रतीत था कि तुम्ही फांसी लगाकर..."

वासवदत्ता (शीघ्रता से) "हां, हां, मैंही फांसी लगाकर मरने योग्य हूं। अच्छा, अब आप चुप रहिए। आपकी चतुराई अब एक न चलेगी, मैं सब समझ और सुन चुकी हूं"। यों राजा से कह कर फिर उसने कांचनमाला से कहा—"अरी! इसी लतापाश से इस उत्पाती बसन्तक और इस ढीठ छोकड़ी को बांधके अन्तःपुरमें लेचल"। कांचनमाला "जो आज्ञा" कहकर बसन्तक और सागरिका को लतापाश से बांधकर आगे आगे चली और पीछे पीछे महामानवती वासवदत्ता भी गई। और थोड़ी देर तक उसी अशोक बन में अकेला राजा सोच सागर की तरङ्गों में डूबता उतराता हुआ अपने शयनमन्दिर की ओर गया।

(११)

अन्तःपुर के बहिर्द्वार से निकल प्रमोदबन में आकर हाथ में रत्नमाला लिए सुसङ्गता फूट फूट कर रोरही थी। थोड़ी देर में उसकी हिचकी थम्ही और फिर आपही आप वह प्रलाप की भांति बकने लगी—"हा! प्यारी, सखी, सागरिके! तू कहां गई? क्या हुई? अब मैं कैसे तुझे पाऊं, क्योंकर तेरे भोले भोले मुखड़े को देखूं? ऐ वैरी विधाता! तेरी मूढ़ता पर धिक्कार है!!! हा! जिसे तू कमलदल से भी कोमल उपकरणों से बनाता है, उसीको बज्र की पैनी धार से काटने भी लगता है? हाय! जो तुझे ऐसाही करना था तो मेरी प्राण समान प्रियसखी सागरिका को तूने ऐसे रूप लावण्य से क्यों भूषित किया? हा! प्यारी, सागरिका! निश्चय अब तू इस संसार में जीवित नहीं है, क्योंकि तूने अपने जीने की आशा को तिलाञ्जलि देकर ही अपनी इस अलौकिक और बहुमूल्य रत्नमाला को मुझे दिया है कि यह किसी ब्राह्मण को दान कर दी जाय। पर अब मैं किस ब्राह्मण को खोजूं? बसन्तक को देती, पर उसे तो महारानी जी ने बांधकर बन्दी बना रक्खा है"।

इस प्रकार आपही आप सुसङ्गता प्रलाप कर रही थी कि इतने ही में बसंतक उसके सामने पहुंच कर बोला—"अरी! इन बन्धन में हम क्यों रहने लगे? प्रिय मित्र (राजा) के कहने से महारानी ने बन्धनमुक्त ही नहीं किया, वरन् अपने हाथ से मुझे भरपेट मेवे के लड्डू भी खिलाए!"

बसन्तक को एकाएक सामने देखकर सुसङ्गता कुछ प्रसन्न हुई और बोली—"तो क्या महारानी महाराज से जो इतनी ऐंठ रही थीं, सो प्रसन्न हो गईं?"

बसन्तक—"क्यों न होंगीं? जब बार बार महाराज ने नाक रगड़ी तो कहां तक मान बना रहै? हम तो छूट गए पर बिचारी सागरिका का क्या हुआ, इस बातका कुछ भी पता नहीं लगता। हमने अन्तःपुर में बहुत ढूंढ़ लगाई पर कुछ फल न हुआ।"

सुसङ्गता—"अजी! जब मुझीको प्यारी सागरिका का पता न मिला, तो तुम्हारी क्या गिनती है? हा! प्यारी सागरिका! तेरे ऊपर क्या बीत रही है, सोभी मैं नहीं जान सकती!" इतना कह कर वह रोने लगी। उसे धीरज देते हुए बसन्तक ने कहा—"तू इतना घबराती क्यों है? हमने तो सुना है कि महारानी जी ने उसे अपने नैहर उज्जयिनी में भेज दिया है"।

सुसङ्गता—"यह तुम्हारा केवल भ्रम है। महारानी जी ने लोगों की, विशेष कर महाराज की, आँखों में धूल डालने के लिये यह झूठा कोलाहल मचा दिया है। और सागरिका को महल ही के किसी गुप्त स्थान में बांध कर छिपा रक्खा है।

बसन्तक—"हा! सुन्दरी, सागरिके! तेरी ऐसी दुर्दशा का वृत्तान्त सुनकर महाराज के प्राणों पर आबनैगी"।

सुसङ्गता—"बसन्तक जी महाराज! प्रिय सखी सागरिका अपने जीने की आशा छोड़ कर अपने गले की यह अमूल्य रत्नमाला इसलिये मुझे देती गई है, कि यह किसी योग्य ब्राह्मण को दान कर दी जाय। इसलिये आप इसे ग्रहण करिए"।

बसन्तक-(आंखों में आंसू भर कर) "हा! ऐसी दशा में हम इस रत्नमाला के लेने के लिये हाथ बढ़ावें? हमें तूने महापात्र समझा है क्या?"

सुसङ्गता ने गिड़गिड़ा कर कहा—"प्यारी सागरिका पर दया करके आप इसे ले लीजिए"।

सुसङ्गता के बहुत आग्रह करने पर बसन्तक ने यह सोच कर कि "अच्छा, इसी रत्नमाला को दिखला कर प्रिय मित्र को धीरज देंगे" उसे लेलिया और कहा—"क्यों, सुसङ्गता! ऐसी रत्न-माला सागरिका के पास कहां से आई?"

सुसङ्गता—"बसन्तक जी! इस रत्नमाला को देख कर मुझे भी बड़ा अचरज हुआ था और मैंने उससे पूछा भी था। पर उसने आकाश की ओर देख कर लम्बी सांस ली और कहा—"सुसङ्गता! मेरा भाग्य लौट गया है, इसलिये अब तू इस भेद को जान कर क्या करेगी; यह कह कर वह रोने लगी, तो फिर मैंने भी अधिक उससे पूछपाछ करना उचित न समझा। पर इतना तो निश्चय है कि यह रत्नमाला सामान्य घर की नहीं है। निश्चय जानो सागरिका अवश्य किसी बड़े राजघराने की लड़की है।

बसन्तक—"ठीक है, ऐसा ही होगा; हम भी ऐसा ही अनुमान करते हैं। अच्छा, अब तू छिपे छिपे सागरिका की टोह लगा, और हम महाराज के चुटीले चित्त को बहलाने का प्रयत्न करें"।

इतना कह और रत्नमाला पोटली में बांध कर बसन्तक तो राजा उदयन के शयनागार की ओर गया और बार बार अञ्चल से आंखें पोछती हुई सुसङ्गता अन्तःपुर में गई।

(१२)

राजा पलङ्ग पर पड़ा पड़ा करवटें बदल रहा था, बारबार उसासें ले ले कर आप ही आप बक झक कर रहा था, सागरिका की बिरहाग्नि उसे अच्छी तरह संतप्त कर रही थी, इतने ही में उसे धीरज देने के लिये बगल में पोटली बांधे बसन्तक पहुंच गया। ऐसी अवस्था में उसे देखकर राजा को उसी प्रकार धीरज हुआ, जैसे जल में डूबते हुए व्यक्ति को एक काठ के टुकड़े को पाकर होता है।

राजा ने उठकर बसन्तक को गले लगाया और पूछा—"क्यों मित्र! महारानी की कोपाग्नि में पड़ कर तुम सहजही में क्यों कर छूट आए?"

बसन्तक ने कहा—"मित्र, महारानी ने तो हम-पर ऐसी कृपा की कि हमें उसने छोड़ ही नहीं दिया, वरन् अपने हाथों से उत्तम उत्तम पदार्थ भोजन कराए और ये सब कपड़े गहने दिए? और हां, तुम्हींने तो हमें छोड़ देने के लिये बहुत कुछ कहा सुना था?"

राजा—"अच्छा, अब यह कहो कि सागरिका के साथ महारानी ने कैसा बर्ताव किया और अब वह कहां और किस दशा में पड़ी है?"

राजा के प्रश्न को सुनकर बसन्तक ने अपना सिर झुका लिया। उसकी आँखें डबडबा आईं और कण्ठ रुँध गया। उसकी ऐसी दशा देख राजा को सांप सा डस गया। थोड़ी देर तक तो वह भी बेसुध की भांति चुपचाप बैठा रहा, पर थोड़ी ही देर में लम्बी सांस लेकर और बसन्तक का हाथ पकड़ कर कहने लगा—"क्यों मित्र, तुम चुप क्यों होगए? तुम्हारी आकृति से जान पड़ता है कि प्यारी सागरिका का कुछ अमङ्गल हुआ है। हाय! हाय! क्या सचमुच उस अनाथिनी ने प्राण-त्याग दिया? हाय! प्रिये! प्राणाधिके! हृदयेश्वरी! सागरिके!" यों कह कर राजा मूर्च्छित हो शय्या पर गिर पड़ा। उसकी ऐसी अवस्था देख कर

बसन्तक घबरा गया। उसने सोचा कि-"अब जो हम इस समय कुछ बात न बनावेंगे तो यह सागरिका के असह्य वियोग में तुरन्त प्राण तज देगा"-यों सोच कर उसने गुलाब जल छिड़क कर राजा को चैतन्य किया और कहा, "मित्र ! धीरज धरो, उतावले न बनो"। परन्तु राजा ने उसके समझाने पर ध्यान न दिया और आप ही आप पागल की भांति बकने लगा-"रे निलज्ज प्राण ! अब तू किस आशा पर इस कलेवर में टिका है ? तेरी सर्वस्व सागरिका दूर गई और तू अभी तक उसका अनुगामी न हुआ ? जल्दी कर जिसमें प्यारी दूर न जाने पावै"।

बसन्तक ने उसका हाथ पकड़ कर कहा-"कुछ सुनते समझते भी हो, या योहीं पागल बन बैठे ! सागरिका का हुआ क्या है ? उसे तो महारानी ने अपने बाप के घर उज्जयिनी नगरी को भेज दिया है। बस इसी कारण से हम इस अप्रिय सम्वाद को नहीं कहते थे, पर तुमने कुछ और ही समझा।"

राजा-(लम्बी सांस लेकर) "हाय ! बासवदत्ता ने बड़ा अन्याय कियां, अस्तु। परन्तु, मित्र ! यह बात तुमने किससे सुनी ?"

बसन्तक-"सुसङ्गता से; और यह लो, सागरिका अपनी रत्नमाला तुम्हारे लिये देती गई है कि जिसमें इसे देख कर प्राणनाथ को धीरज हो।" यह कह कर उसने रत्नमाला राजा के हाथ में दी, जिसे उसने लेकर हृदय से लगाया और कहा-"हाय, यह रत्नमाला भी हमारी ही भांति अभागिन है कि प्यारी के गले से अलग हो गई। पर फिर भी प्यारी की प्रतिनिधि हो कर यह हमारे अधीर चित्त का आश्वासन करती है। (आंखों में आंसू भर कर) मित्र ! अब प्राणप्यारी सागरिका का मिलना दुर्लभ है"।

बसन्तक ने कहा-"कुछ दुर्लभ नहीं है। तुम धीरज धरो। हम उसके मिलने का जल्दी ही कोई न कोई उपाय अवश्य करेंगे"।

यद्यपि बसन्तक की बातों से राजा को कुछ ढाढ़स हुआ, पर उसका चित्त ठिकाने नहीं हुआ। उसी समय एक ऐसी घटना हुई कि जिससे राजा का ध्यान सिमट कर एकत्र हुआ और कुछ काल के लिये वह प्रकृतिस्थ होगया।

उसका वृत्तान्त यों है कि कुछ काल पूर्व राजा ने अपने प्रधान सेनापति रुमण्वान को कोशलपुर जीतने के लिये सेना के साथ भेजा था; सो वह विजय का डङ्का बजाता हुआ ठीक इसी समय पहुंचा, जब राजा सागरिका के लिये शोकाकुल हो रहा था।

द्वारपालिका बसुन्धरा से रुमण्वान के आने का समाचार पाकर राजा ने चट उसे अपने समीप बुलाया और उससे कोशलपुर के शीघ्र विजय होने के वृत्तान्त को सुनकर बड़ा हर्ष प्रगट किया, तथा रुमण्वान को बहुत बड़ा पुरस्कार दे कर बिदा किया।

रुमण्वान के जाने पर फिर राजा सागरिका की चिन्ता से शोकाकुल हो जाता, यदि ठीक उसी समय उसके पास महारानी बासवदत्ता की परिचारिका काञ्चनमाला न पहुंचती। उसने राजा को प्रणाम करके कहा कि-"प्रभो ! महारानी जी के पीहर (उज्जयिनी) से शंबर सिद्ध नाम का एक ऐन्द्रजालिक आया है सो महारानी जी की इच्छा है कि आप भी प्रमोदबन में पधारें, जो कि अन्तःपुर के प्रासाद के सम्मुख है, तो उसका खेल देखा जाय"।

काञ्चनमाला के उत्तर में राजा ने इतना ही कहा कि-"उसे कहो अपने खेल की सामग्री ले कर आवै, हम अभी आते हैं"। और फिर वह बसन्तक के साथ प्रमोद वन में पहुंचे।

वहां महारानी बासवदत्ता और उसकी असंख्य परिचारिकाएं उपस्थित थीं। महारानी ने आगत-स्वागत करके राजा को रत्न की चैाकी पर बैठाया और आप भी राजा की बाईं ओर दूसरी रत्न चैाकी

पर बैठीं। पीछे सब परिचारिकाएं चँवर छत्र आदि लिए खड़ी हुईं। राजा की दहिनी ओर स्वर्ण चौकी पर बसन्तक बैठा। इस प्रकार सब ठीक ठाक होने पर वह ऐन्द्रजालिक भी वहां बुलाया गया। क्योंकि वह बासवदत्ता के नैहर का था, इसलिये उससे परदा नहीं किया गया।

ऐन्द्रजालिक ने राजा रानी को प्रणाम करके खेल प्रारम्भ किया और चँवर हिला हिला कर अनेक प्रकार के विचित्र कौतुक तथा अद्भुत दृश्य यथा-क्रम से दिखलाए।

उसके अपूर्व कौतुक पर सभी मोहित, चकित, पुलकित और स्तम्भित हुए। उसी समय अवसर देख कर बसन्तक ने उठ के ऐन्द्रजालिक के कान में कहा—"सिद्ध जी! इन प्रपञ्चों को बस करो, यदि महाराज से भरपूर पुरष्कार की आशा हो तो उन्हें 'सागरिका' दिखलाकर प्रसन्न करो"।

बसन्तक की बातों का ऐन्द्रजालिक उत्तर भी न देने पाया था कि द्वारपालिका बसुन्धरा ने आ कर राजा से निवेदन किया कि—"प्रभो! महामन्त्री यौगन्धरायण ने निवेदन किया है कि सिंहलेश्वर के भेजे हुए उनके प्रधान मन्त्री वसुभूति आपके कञ्चुकी बाभ्रव्य के साथ आए हैं, सो श्रीमान उनसे अभी भेट करें। इतने में आवश्यक कार्यों को पूरा करके मैं भी आता हूं"।

सिंहलेश्वर के प्रधान मन्त्री के आगमन समाचार को सुनकर सभी प्रसन्न हुए और बासवदत्ता ने राजा से कहा,—"प्राणेश्वर! तो, इस समय ऐन्द्रजालिक का कौतुक बन्द किया जाय। क्योंकि मेरे मामा के यहां से मन्त्रीवर वसुभूति आए हैं उनसे अभी मिलना चाहिए"। रानी की सम्मति को मान कर राजा ने इन्द्रजाल के खेल को बन्द किया और बसुभूति की अगवानी के लिये बसन्तक को भेजा।

ऐन्द्रजालिक ने अपनी सामग्री को समेट कर कहा—"महाराज! मेरा एक खेल और देखने लायक है"। इसपर राजा ने कहा "हां! फिर किसी समय देखा जायगा!!!" यह सुनकर ऐन्द्रजालिक चला गया।

बसन्तक जब वसुभूति के सामने पहुंचा तो उसने सागरिका की रत्नमाला बसन्तक के गले में देखकर (क्योंकि उस समय वह माला बसन्तक के गले में थी) बाभ्रव्य के कान में कहा कि—"ऐं! यह तो राजकुमारी की रत्नमाला है!"

बाभ्रव्य—"हां, है तो सही, इससे पूछें कि यह माला तुमने कहां पाई?"

वसुभूति,—"अभी ठहरो! जरा भली भांति सोच विचार लें तब पूछेंगे; क्योंकि इस राजभवन में भी रत्नों का अकाल नहीं है।"

इतने ही में बसन्तक वसुभूति और बाभ्रव्य के निकट पहुंच गया और उन दोनों को बड़े आदर के साथ राजा के समीप ले आया। राजा ने भी उन दोनों को उचित आसन पर बैठाया और वे दोनों भी राजा रानी को प्रणाम करके आसन पर बैठ गए। फिर कुशलप्रश्न के पश्चात् राजा के पूछने पर वसुभूति ने अपने आने का वृत्तान्त यों कहा—"महाराज! मेरी कहानी निरी दुःख से भरी हुई है, जिसके स्मरण करने से भी कलेजा फटा जाता है; पर क्या कहूं, कहता हूं, सुनिए! हमारे महाराज सिंहलेश्वर की एक रत्नावली नाम की कन्या थी। उनका हाथ देखकर एक सिद्ध ने भविष्यत वाणी कही थी कि जो इस कन्या को ब्याहैगा वह निश्चय चक्रवर्त्ती राजा होगा। उसके बातों की टोह आपके मन्त्रीवर यौगन्धरायण को लगी और उन्होंने आपका हित समझ कर वह कन्या आपके लिये सिंहलेश्वर से मांगी। पर उन्होंने यह कह कर अपनी कन्या को देना नहीं स्वीकार किया कि मैं अपनी भांजी बासवदत्ता के हृदय पर अपनी ही लड़की को सपत्नी रूप से नहीं बिठलाया चाहता"। इस उत्तर को सुनकर महामन्त्री यौगन्धरायण ने आपके कंचुकी (उंगली दिखाकर)